जैन भारती

अक्टूबर, 2007 • वर्ष 55 • अंक 10 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

METRO
Your Permanent Friend

METRO PLYWOOD PVT. LTD.

Vill : Damla, Delhi Road, Yamunanagar (HR) 135001

Tel. : 01732-282057, 22494

An ISO 9001 Certified Co.

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 55 • अक्टूबर, 2007 • अंक 10

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अनासक्त कर्म की साधना

16
प्रो. सागरमल जैन
मानवीय एकता; शांति और सामंजस्य : जैन दृष्टि

21
साध्वी डॉ. योगक्षेमप्रभा
कर्मवाद की विलक्षणता

•
आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

27
महात्मा गांधी
अहिंसा का मार्ग

28
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
आवश्यकता अहिंसा प्रशिक्षण की

35
मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'
भावक्रिया—सफलता-सिद्धि का सूत्र

39
कहानी
जोल्तान सितन्याइ
प्रतिनिधि मंडल

42
कविता
प्रमोद वर्मा की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
शांति और अहिंसा

शीलन

45
डॉ. महावीरराज गेलड़ा
आगम कथा रोहिणी—एक दृष्टि

50
बालकथा
व्यथित हृदय
चिट्ठी के अक्षर

रपट

53
तरुण सेठिया
अहिंसा और अनेकांत···

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

हम भगवान के घर के संदेशवाहक हैं

केलवा में परिषद जुड़ी हुई थी। वहां के जागीरदार ठाकर मोखमसिंहजी ने स्वामीजी से पूछा—'गांव-गांव से आपके पास प्रार्थनाएं आती हैं। बहुत पुरुष और स्त्रियां आपको चाहते हैं। वे आपको देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं, उन्हें बहुत प्रिय लगते हैं। इसका क्या कारण? आपमें ऐसा कौन-सा गुण है?'

तब स्वामीजी बोले—'कोई साहूकार परदेश गया हुआ था। उसने अपने घर संदेशवाहक भेजा और खर्चे के लिए रुपये-पैसे भेजे। सेठाणीजी संदेशवाहक को देखकर बहुत राजी हुईं। गरम पानी से उसके पैर धुलाए। भली-भांति खाना पका कर उसे खिलाया। उसके पास बैठकर अपने पति के समाचार पूछने लगीं—'साहजी शरीर से कैसे हैं—उनका स्वास्थ्य कैसा है? उनके शरीर में सुख-शांति है? साहजी कहां सोते हैं? कहां बैठते हैं?' संदेशवाहक जैसे-जैसे समाचार बतलाता है, वैसे-वैसे वह सुनकर बहुत राजी होती है। पर संदेशवाहक को देख प्रसन्न होने का कारण यह है कि वह उसके पति का समाचार उसे बतलाता है।

'इसी प्रकार हम भगवान के गुण और संदेश लोगों को बतलाते हैं। संसार से मुक्त होने का मार्ग बतलाते हैं। यही कारण है कि पुरुष और स्त्रियां हमसे बहुत प्रसन्न रहते हैं।'

यह किसने देखा?

किसी समय केलवा में ठाकर मोखमसिंहजी ने पूछा—'आप भविष्य और अतीत का लेखा-जोखा बतलाते हैं। वह किसने देखा है?'

तब स्वामीजी बोले—'तुम्हारे बाप, दादे और परदादे हुए। तुम उन पीढ़ियों के नाम और उनकी पुरानी बातें जानते हो, वे सब किसने देखें हैं?'

तब ठाकर बोले—'बहीभाटों की पोथियों में पुरखों के नाम और बातें लिखी हुई हैं, उनके आधार पर जानते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'बहीभाटों के झूठ बोलने का त्याग नहीं है। उनकी लिखी हुई बातों को भी तुम सच मानते हो, तब फिर ज्ञानी पुरुषों द्वारा कहे हुए शास्त्र असत्य कैसे होंगे? वे सत्य ही हैं।'

यह सुनकर ठाकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'आपने बहुत अच्छा समाधान किया।'

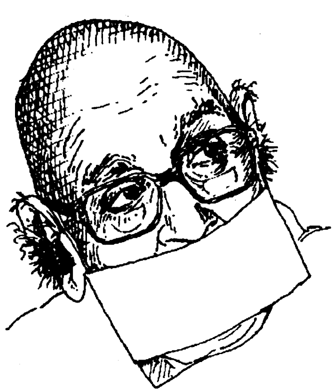

केवल आध्यात्मिक या केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युगीन समस्याओं का समाधान नहीं खोजा जा सकता। अध्यात्म और विज्ञान की समन्वित सोच ही समाधायक हो सकती है।

अध्यात्म और विज्ञान—दोनों का लक्ष्य है—सत्य की खोज। एक की खोज का आधारबिंदु है—आत्मा और दूसरे की खोज का विषय है—पदार्थ। दोनों का प्रस्थान अज्ञात को ज्ञात करने की दिशा में है। अध्यात्म का विकास शास्त्रों के सहारे हो सकता है, पर कोई भी पहुंचा हुआ आध्यात्मिक वहीं तक रुकता नहीं है। 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—स्वयं सत्य खोजें—भगवान महावीर का निर्देश ही सत्य को खोजने की प्रेरणा देता है। अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण ही आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण है। प्रशिक्षण की प्रक्रिया समीचीन, व्यवस्थित और दीर्घकालीन हो तो उसके यथेष्ट परिणाम आ सकते हैं।

—आचार्यश्री तुलसी

सावद्य योग का त्याग कर देने पर कषाय का त्याग नहीं हो जाता। कषाय तो भीतर विद्यमान रहता ही है। कषाय और योग—इन दोनों के दो अलग-अलग क्षेत्र हैं। एक कषाय का क्षेत्र है, एक योग का क्षेत्र है। कषाय है, रहेगा। इसीलिए साधक का महत्त्वपूर्ण काम है—कषाय को योग की परिधि में न आने दे। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। ये योग हैं। ये अपने-आप में अच्छे या बुरे नहीं होते। इस संदर्भ में जयाचार्यश्री की पंक्ति ज्ञातव्य है—**उजला नै मैला कह्या जोग, मोह कर्म संजोग विजोग।** काययोग होता है, इसके साथ जब कषाय जुड़ जाता है तो काययोग सावद्य बन जाता है। काययोग के साथ कषाय का जुड़ना कमजोरी है, प्रमाद है। इसी तरह वचन की प्रवृत्ति होती है और वचन में यदि कटुता आ जाती है तो इसका मतलब है कि वचनयोग में कषाय का प्रवेश हो गया। मनोयोग के संदर्भ में भी यही बात है। चेहरा लाल-पीला नहीं हुआ, कटु-कठोर शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ, पर मन में कुछ अन्यथा आ गया। क्रोध, मान, माया और लोभ का स्पर्श होते ही मन मैला हो गया। कषाय अलग पड़ा रहे, तब तक तो कोई बात नहीं, लेकिन योग के साथ जुड़ते ही ये योग को मलिन कर देते हैं।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

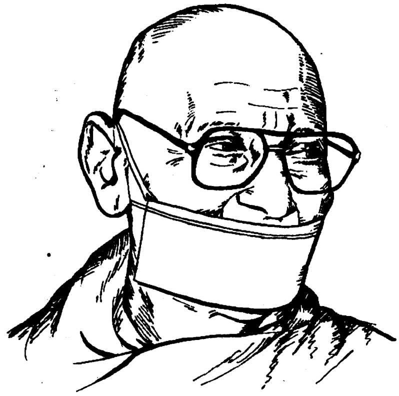

सत्य और अहिंसा, दोनों, धर्म हैं। इनमें बड़े-छोटे का प्रश्न नहीं होता। दोनों सापेक्ष हैं। अहिंसा के बिना सत्य नहीं होता और सत्य के बिना अहिंसा नहीं होती। निश्चय-नय में ये दो हैं ही नहीं। सत्य अहिंसा का ही एक पहलू है। साधना की दृष्टि से हमने इन्हें विभक्त किया है। जीव-वध के संवरण को प्राणातिपात विरति कहते हैं, तब वाणी के संवरण को मृषावाद विरति या सत्य। अहिंसा का स्वरूप व्यापक है। असत् का संवरण और सत् का प्रवर्तन अहिंसा है। इस रूप में सत्य अहिंसा से भिन्न नहीं है। शरीर, वाणी और मन की वक्रता असत्य है, विसंवाद असत्य है। काया, वाणी और मन की ऋजुता सत्य है, अविसंवाद सत्य है। वक्रता हिंसा और ऋजुता अहिंसा है।

अहिंसा और सत्य, दोनों, साधन हैं। इनका साध्य है आत्मा का सहज भाव। वह सत्य भी नहीं है। सत्य और अहिंसा साधनाकालीन तत्त्व हैं। जीवन में हिंसा और असत्य आ जाते हैं, तब स्वभाव विभाव बन जाता है, प्रकृत विकृत बन जाता है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए मनुष्य यत्न करता है, साधना करता है। अहिंसा और सत्य के आलंबन से विकृति से प्रकृति में आ जाता है।

प्राणातिपात जीवन की अशक्यता भी है, किंतु हिंसा और असत्य जीवन की अशक्यता या अनिवार्यता नहीं, किंतु उसकी विकृति हैं। प्राणातिपात का मूल जीवन की प्रवृत्तियों में भी है, किंतु हिंसा और असत्य का मूल मोह है। मोह एक आत्मिक संस्कार और कर्म है, जो राग-द्वेष की भावनाओं से पुष्ट होता रहता है। मोह आत्मा को विकृत बनाता है। विकृत आत्मा की प्रवृत्तियों को हम अनेक नाम दे देते हैं, किंतु वास्तव में उन सबका नाम है हिंसा।

यह विश्व जीवों का संकुल है। चलते-फिरते कहीं-न-कहीं जीव-वध हो ही जाता है। दैहिक दशा में निर्मोह भाव प्राप्त हो सकता है, किंतु प्राणवध न हो, ऐसी स्थिति सर्वभावेन प्राप्त नहीं होती।

मुमुक्षु का प्रयत्न प्राण-वध से निवृत्त होने के लिए नहीं होता, किंतु निर्मोह बनने के लिए होता है। निर्मोह बनने के लिए प्राण-वध से निवृत्त होना आवश्यक है। इसलिए वह प्राण-वध न करने के लिए सतत जागरूक रहता है। मुमुक्षु-भाव सबमें समान नहीं होता। एक व्यक्ति अनेक कष्टों को झेलकर भी प्राण-वध से निवृत्त रहने का यत्न कर सकता है, किंतु दूसरा प्राण-वध से निवृत्त रहने के लिए कष्टों को झेलना नहीं चाहता।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

शांति और अहिंसा

ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। शांति के अभाव में अहिंसा और अहिंसा के न रहते शांति की आशा करना मुमकिन नहीं; यह जानी-समझी बात है। फिर भी दोनों के बीच गहरा अंतर है। अहिंसा साधन है और शांति साध्य है। यदि हम शांति को पाना चाहते हैं तो अहिंसा को अपनाना होगा। तब यह आवश्यक हो जाता है कि अहिंसा की प्रचलित परिभाषा—यह कि जीव-हिंसा से अहिंसा खंडित होती है—से कहीं आगे हमें चलना होगा। जीव-हिंसा और युद्ध तो हिंसा है ही, पर अहिंसा की मर्यादा प्रेमपूर्वक प्रयत्न से साध्य की प्राप्ति—यानी शांति की प्राप्ति—न हो तो त्याग तक जाने की बात कहती है। आचार्य विनोबा भावे इसे सौम्य और सौम्यतर प्रयत्न कहते हैं। वे अहिंसा के लिए तीव्र और तीव्रतर उपाय में भी हिंसा होना देखते हैं। वे कहते हैं कि—'... यह अहिंसा का सोचने का ढंग नहीं है। शस्त्रास्त्रों में यह चलता है। छोटे शस्त्रों से काम पूरा नहीं हुआ तो बड़े शस्त्र निकाले। उनसे भी काम पूरा न हो, तो अधिक तीव्र शस्त्र निकाले जाएं। इस तरह अहिंसा के लिए भी तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम, इस तरह सोचते चले जाएंगे, तो नाममात्र के लिए अहिंसा होगी, विचार की अहिंसा नहीं होगी। इसलिए अहिंसा में सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम, इस तरह सोचने का ढंग होगा।'

स्वयं विनोबा भावे इसे विचार की अहिंसा मानते हैं, और साथ ही व्यवहार के स्तर पर भी अहिंसा को वे इसी तरह देखना चाहते हैं। वे कहते हैं—'यह चीज हम सारे समाज के लिए कह रहे हैं। राज्यकारण, व्यापार-व्यवहार, सामाजिक क्षेत्र, कुटुंब—सभी में यह लागू होगा।'

पर, आज हम स्थिति उलट देखते हैं। आज अधिकाधिक शस्त्रबल इसलिए जरूरी माना जाता है कि युद्ध की संभावना क्षीण होती रह सके। निशस्त्रीकरण की बातें वहां से अधिक तीव्रता से उठती है, जहां आयुधों के विपुल भंडार स्थापित हैं और नित नए अनुसंधान निरंतर जारी हैं। यदि उपरोक्त बात को सौ टका सही मानते हैं और यदि इस कथन से हम इनकार न करें, तब आचार्य विनोबा की बात तार्किक दृष्टि से सही ठहरती है कि प्रेमपूर्वक प्रयत्न से शांति की प्राप्ति न हो तो 'त्याग' तक जाने की बात सोचनी चाहिए। पर, ऐसा नहीं हो रहा तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि प्रेमपूर्वक प्रयत्न के लिए 'त्याग' के आखिरी पायदान तक चले जाना अतार्किक है। यह हमारी अपनी कमजोरी अथवा मानसिक-आंतरिक संशय है जो 'त्याग' की उस हद तक पहुंचने से हमें रोकता है। और, यह इक्का-दुक्का नहीं, इस समय तो सभी के साथ हो रहा है।

शांति की स्थापना को डॉ. एस. राधाकृष्णन भी अधिक जटिल मानते हैं। फिर भी वे मतभेदों को सुलझाने के लिए ताकत के प्रयोग को अनैतिक बताते हुए एक नीति के रूप में भी ताकत के प्रयोग को अनुचित कहते हैं। वे कहते हैं—'विश्व-बंधुत्व की भावना के प्रसार के लिए जरूरी है कि हम समान उद्देश्य और मानवीय सहयोग को महत्त्व प्रदान करें। प्रेम से हर जगह लोगों के दिलो-दिमाग में अपनी जगह बनालें।' वे याद दिलाते हैं—'हमारी सुरक्षा स्थाई आध्यात्मिक मूल्यों में है, इसलिए हमें इन्हें पूरी निष्ठा के साथ बनाए रखने की कोशिश करनी चाहिए।' डॉ. राधाकृष्णन फिर कहते हैं—'मानव का अस्तित्व दुखमय है और दुख को मिटाने के लिए जरूरी है—लोभ का संवरण।.... शांति कायम रखने के लिए आत्मालोचन और अंतरराष्ट्रीय अनुशासन बहुत जरूरी हैं।'

शांति और अहिंसा को स्थापित करने के लिए कोई भी उपाय जटिलताओं से भरे हुए ही हो सकते हैं, यह बात एक तरह से सर्वमान्य है और इन्हीं जटिलताओं के बीच किसी सर्वमान्य मार्ग की तलाश भी जारी है—यह भी हम जानते हैं। जिस तरह डॉ. राधाकृष्णन दुख मिटाने के लिए लोभ के संवरण की बात कहते हैं, उसी तरह मनीषी-विचारक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी संयम और अपरिग्रह पर बल देते हैं। यह सही भी है कि लोभ का संवरण तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति में संयम और अपरिग्रह के प्रति चेतना जगे। वे कलह और युद्ध के पीछे भी परिग्रह और लालसा को बहुत बड़ा कारण मानते हैं।

आर्थिक विषमता, सुविधावादी दृष्टिकोण और गैर-पारस्परिकता जैसी परिस्थितियों के चलते शांति और अहिंसा की आशा नहीं की जा सकती। पर, इन परिस्थितियों में भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सरीखे चिंतक-मनीषी किसी हताशा में हथेली टेक अवश नहीं हो गए हैं। वे एक ओर हिंसा के कारणों को मानसिक स्तर पर तलाश कर उनके समाधान के लिए प्रायोगिक परिश्रम में लगे हैं तथा अध्यात्म और विज्ञान के मध्य सेतु बने दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं के लिए एक मंच की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं। यही नहीं, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी विगत डेढ़-दो दशक से संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्तर पर अंतरराष्ट्रीय मंच की बात भी कहते आ रहे हैं। वे अहिंसा और शांति के लिए अपने ही अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की बात करते हैं और ऐसी आचार-संहिता को जरूरी मानते हैं जिससे विश्व-मानस में अहिंसा अपना स्थान बना सके। इन सबके चलते दो अक्टूबर (महात्मा गांधी जन्मदिवस) को अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस घोषित करना जहां काफी महत्त्वपूर्ण है, वहीं यह आशा भी की जानी चाहिए कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की परिकल्पना के अनुरूप अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अब कुछ ठोस काम होना शुरू होगा।

अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस के रूप में पहली बार दो अक्टूबर के दिन विश्व स्तर पर कुछ आधारभूत बातें स्पष्ट होना जरूरी है। यह जरूरी है कि शांति और अहिंसा के लिए विश्व स्तर पर किए जाने वाले कामों का खाका दुनिया के सामने स्पष्ट हो। जिन महात्मा गांधी ने अपने समूचे जीवन को 'प्रयोग' के रूप में माना और यह स्वीकार किया कि जीवन में जो-कुछ कर रहे हैं, वे उनके 'सत्य के प्रयोग' हैं—अपनी आत्मक़था को इसीलिए उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' कहा—उन महात्मा गांधी के प्रति वास्तविक श्रद्धांजलि यही होगी कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शांति और अहिंसा के लिए मात्र विचार नहीं, प्रयोग के रूप में काम शुरू हों। जैसा कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने डेढ़-दो दशक पहले ही यह अवधारणा प्रस्तुत कर दी थी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्तर का एक 'अहिंसा मंच' स्थापित हो और जैसा कि वे कह चुके कि अहिंसा और शांति के लिए अपना ही अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र और एक आचार-संहिता हो; यह उपयुक्त समय है कि उनकी यह संकल्पना फलीभूत हो।

यदि हम अन्य अवसरों की तरह 'अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस' को महज रस्म-अदायगी और मात्र श्रद्धाभरा पूजा-अर्चना जैसा दिवस नहीं बनाना चाहते हैं, यदि रोमन नाटककार टेरेंस के नाटक के एक पात्र के कथन—'मैं एक मनुष्य हूं, इसलिए जो चीज मानवीय नहीं, उससे मेरा कोई संबंध नहीं'—में विश्वास करते हैं, तो अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस जैसे इस अवसर को 'शांति और अहिंसा' के लिए विश्व स्तर पर कुछ वास्तविक रूप से कर दिखाने के संकल्प के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

—शुभू पटवा

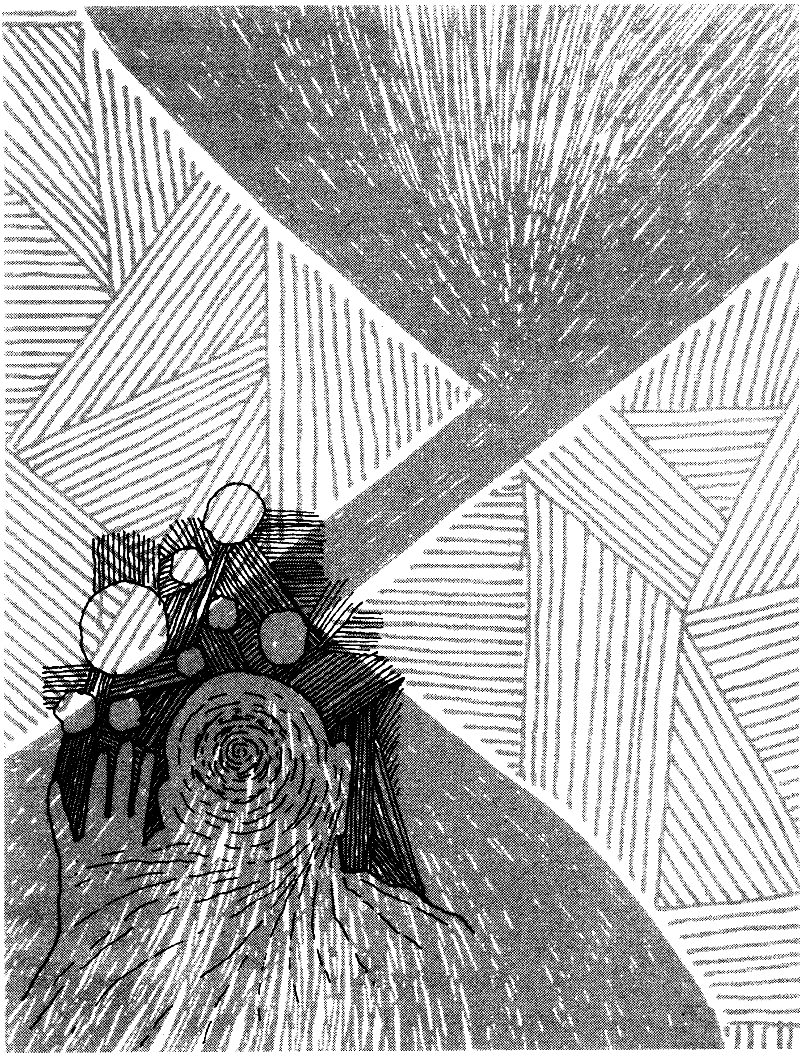

विमर्श

मानवी पहचान के किसी एक प्रश्न पर आग्रह, जहां चुनाव की आजादी न हो, हमको न सिर्फ छोटा बना देती है, यह दुनिया में आगजनी की संभावनाएं भी पैदा कर देती है। एक ही सर्वग्राही श्रेणी के साथ कसकर बांध दिए जाने का विकल्प यह विचार ही है कि हम सब एक-समान हैं, और यह विचार तथा दावा किसी भी तरह अयथार्थ नहीं है। आज की परेशान दुनिया में आशा की अकेली किरण विविध पहचानों की धारणा ही है और हो सकती है, क्योंकि यही एकमेव पहचान की कठोर सीमाओं को तोड़कर, जिनका आसानी से निराकरण नहीं किया जा सकता, सबमें संतुलन उत्पन्न कर सकती है। किसी एकमात्र सर्वशक्तिसंपन्न श्रेणी में मनुष्य की जकड़बंदी के कारण हमारी साझी मानवता आज सबसे कड़ी चुनौती का सामना कर रही है।

—अमर्त्य सेन

अति-सक्रियता और अति-प्रवृत्ति के कारण आज इतनी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सारा संसार महासंकट के कगार पर खड़ा है। किसी के पास समय नहीं है। सब व्यस्तता में फंसे हैं। न जाने इससे कब, कैसे मुक्त हो सकेंगे? इस संकट से बचने का एकमात्र उपाय है—अकर्म, अक्रिया। अक्रिया का सिद्धांत केवल मोक्ष-प्राप्ति का ही सिद्धांत नहीं है, यह व्यावहारिक जीवन जीने का सिद्धांत भी है। जो व्यक्ति कर्म और अकर्म के संतुलन को नहीं जानता, वह सफल जीवन नहीं जी सकता। जो व्यक्ति क्रिया और अक्रिया के संतुलन को नहीं जानता, वह जीवन-यात्रा को आनंदमय ढंग से नहीं चला सकता। अकर्म का बहुत बड़ा प्रश्न है। आत्म-साक्षात्कार के लिए हम अकर्म का अभ्यास करें—यह अच्छा है। किंतु, सफल जीवन जीने के लिए भी इसका अभ्यास करें।

अनासक्त कर्म की साधना

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

ध्यान साधना करने वाले व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। वे स्वयं परमात्मा बन सकते हैं। इसकी केवल एक शर्त है कि व्यक्ति कर्म से मुक्त हो, अकर्म बने। जिस उपलब्धि के लिए व्यक्ति हजारों प्रयत्न करता है, वह एक अप्रयत्न से प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति नहीं जानता, वह हजारों प्रयत्न, विभिन्न प्रवृत्तियां और कर्म करता रहता है। पर, सब-कुछ प्रयत्न या कर्म से नहीं मिलता। कुछ ऐसी उपलब्धियां भी हैं जो केवल अप्रयत्न से ही प्राप्त होती हैं। कुछ ऐसा तत्त्व भी है जो कर्म से नहीं, अकर्म से मिलता है। हमने अज्ञानवश यह मान लिया कि जो भी सिद्धि होगी वह प्रयत्न, प्रवृत्ति या कर्म से ही होगी। हम अप्रयत्न या अकर्म का मूल्य नहीं जानते।

कुछ लोग इस बात पर अधिक बल देते हैं कि कर्म होना चाहिए। यदि कर्म को छोड़ दिया गया तो लोग आलसी बन जाएंगे, भूखे मरेंगे। न खेती होगी, न अनाज पैदा होगा। न कुआं होगा और न पानी मिलेगा। सब भूखे-प्यासे मर जाएंगे। न कपड़ा होगा, न मकान होगा। इसलिए कर्म ही श्रेष्ठ है। व्यक्ति इतना कर्म करे कि वह कर्ममय बन जाए। कर्म का कौशल इतना बढ़े कि पदार्थों के उत्पादन की बाढ़ आ जाए और सारा देश पदार्थों से भर जाए। पदार्थ का अभाव रहे ही नहीं। यह एक दृष्टिकोण है। कर्म पर अत्यधिक बल देने वाले अकर्म के मूल्य को भूल जाते हैं, या अकर्म के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते। तब ऐसा ही दृष्टिकोण बनता है।

क्या कर्म अकर्म हो सकता है?

भारतीय दर्शन में चर्चा की गई कि क्या कर्म को अकर्म बनाया जा सकता है? काफी गहरा चिंतन चला। उसका निष्कर्ष यह हुआ कि यदि कर्म को अकर्म न बनाया जा सके तो पशु और मनुष्य में कोई अंतर ही नहीं रहेगा।

मैंने देखा। एक चिड़िया घोंसला बना रही थी। वह

तिनका लाती है, घोंसला बनाने वाले स्थान पर रखते ही वह जमीन पर आ गिरता है। वह पुनः उसे उठाती है, रखती है, पुनः वह नीचे आ गिरता है। यह क्रम चलता रहा। मैंने सोचा—कितना प्रयत्न! कितना श्रम! शायद आदमी भी इतना पुरुषार्थी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सामने श्रम की एक रेखा है, श्रम का विभाजन है। चिड़िया में वह नहीं है। सायंकाल तक उसका प्रयत्न चला, पर घोंसला नहीं बना। सारा व्यर्थ। चिड़िया यह विवेक नहीं कर पा रही थी कि उसका प्रयत्न अर्थवान है या निरर्थक, पर उसके पुरुषार्थ में कोई कमी नहीं थी।

हम कर्म को न देखें। कर्म को देखते हैं तो धारणाएं भ्रांत बनती हैं। हम कर्म के स्रोत को देखें, कर्म के प्रेरक तत्त्व को देखें। हम यह देखें कि कर्म कहां से आ रहा है। कर्म शब्द ने बड़ी भ्रांति पैदा की है। अकर्म शब्द को सुनते ही आदमी सोचता है कि अकर्म का फल है निठल्लापन। अकर्मण्यता से सब-कुछ समाप्त हो जाता है। विकास का अवकाश ही नहीं, जो है वह भी नष्ट हो जाता है।

एक मरुस्थल का वासी अनार के देश में चला गया। उसे वहां अनार खाने को दी। उसने अनार को उलट-पलटकर देखा। उसका छिलका उतारा। अंदर बीज ही बीज थे। लाल-लाल बीज। उसने बीजों को निकाल फेंका। हाथ में छिलका मात्र रह गया। वह उसे खाने लगा। मुंह कषैला हो गया। उसने ग्रास को थूकते हुए कहा—'अरे! यह कैसा फल! इतना कषैला!'

उस आदमी को पता नहीं था कि अनार में कौन-सा अंश खाने का होता है और कौन-सा फेंकने का। बीज निकालने के ही होते हैं—यह मानकर उसने बीजों को फेंक डाला। हाथ लगा केवल छिलका, जो कषैला होता ही है।

जिस व्यक्ति ने अकर्म का अनुभव नहीं किया, अकर्म के महत्त्व को नहीं जाना, वह अकर्म के मीठे बीजों को फेंकता जाएगा और कर्म के कड़वे छिलकों को खाता जाएगा। मुंह कड़वा होगा, कषैला होगा। अकर्म को छोड़कर आज मनुष्य-जाति बहुत दरिद्र और शक्तिशून्य बन गई है। कर्म की शक्ति का जब भान नहीं होता, तब कर्म की तेजस्विता समाप्त हो जाती है।

भारत के साधकों ने, आचार्यों ने इस पर बल दिया कि यदि मनुष्य और पशु-जगत में भेद-रेखा खींचनी है तो कर्म और अकर्म के आधार पर खींची जा सकती है। मनुष्य अकर्म की ओर जा सकता है, पशु अकर्म की ओर नहीं जा सकता। कर्म से अकर्म की ओर जाने में कर्म को छोड़ना नहीं पड़ता, किंतु कर्म की प्रेरणा का शोधन करना पड़ता है।

कर्म का प्रेरक तत्त्व

कर्म की प्रेरणा है—वृत्ति। वृत्ति से प्रेरित होकर ही मनुष्य और पशु कर्म करते हैं। वृत्तियां अनेक हैं—आहार की वृत्ति, भय की वृत्ति, काम और परिग्रह की वृत्ति, क्रोध और मान की वृत्ति, माया और लोभ की वृत्ति। इन वृत्तियों से प्रेरित होकर ही प्राणी कर्म करता है। प्रत्येक कर्म के पीछे इनमें से किसी एक या अधिक वृत्तियों की प्रेरणा रहती है। वृत्ति से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति—यह चक्र निरंतर चलता रहता है। वृत्ति जागी, प्रवृत्ति हुई। प्रवृत्ति ने मनुष्य को बांध दिया। अब पुनरावृत्ति होना अनिवार्य है, उसके बिना छुटकारा नहीं हो सकता। वृत्ति की प्रेरणा आती है, वह प्रवृत्ति तक नहीं पहुंच पाए तो संभव है कि आदमी बच जाए। किंतु यदि वृत्ति जाग जाएगी तो प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति होगी ही, उसे रोका नहीं जा सकता। बार-बार उसकी आवृत्तियां होती रहेंगी। संस्कार पकड़ लेता है, ग्रस लेता है। आदमी संस्कारों से ग्रस्त होकर ही काम करता है, आवश्यकतावश काम में कम प्रवृत्त होता है। जिस संस्कार से चित्त एक बार ग्रस्त हो जाता है, उस संस्कार को दोहराना ही पड़ता है।

वृत्ति-शोधन

हमें शोधन करना है। शोधन कर्म का नहीं करना है, कर्मेंद्रिय का नहीं करना है। जैसे, हाथ एक कर्मेंद्रिय है, उसका क्या शोधन हो सकता है? किसी ने किसी को चांटा मारा तो उसमें हाथ का क्या दोष है? क्या हाथ ने बुरा कर्म किया है? हाथ कुछ भी नहीं जानता। हाथ से चांटा मारने के पीछे जो हमारी क्रोध की वृत्ति है, उसका शोधन करना है। हाथ का क्या शोधन होगा? हाथ चलता ही रहेगा। चांटे मारने में नहीं चलेगा, तो वह प्रणाम करने में चलेगा, भोजन करने में चलेगा। हाथ का शोधन नहीं होता है, किंतु हाथ को अनुचित कार्य करने में प्रेरित करने वाली वृत्ति का शोधन होता है। कर्म तभी अकर्म बनता है, जब वृत्ति का शोधन होता है। कर्म के साधनों का शोधन नहीं होता, कर्म की प्रेरणा का शोधन हो सकता है। प्रेरणा का शोधन केवल मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं कर सकता। यही मनुष्य और पशु के बीच की भेद-रेखा है। आदमी और पशु की परिभाषा हम इन शब्दों में

कर सकते हैं कि जो वृत्ति का शोधन कर सकता है, वह होता है आदमी और जो वृत्ति का शोधन नहीं कर सकता, वह होता है पशु। पशु की पशुता चलती रहेगी, इसीलिए कि उसमें वृत्ति-परिष्कार की कोई संभावना नहीं है। मनुष्य पशुता से ऊपर उठ सकता है, क्योंकि उसमें वृत्ति-परिष्कार की क्षमता है।

आत्म-साक्षात्कार का पथ

मनुष्य कर्म से अकर्म में जा सकता है। यह आत्म-साक्षात्कार का पथ है। इस पथ पर अनगिन चरण चले हैं, चलते हैं और चलते रहेंगे। किंतु, जब इस दिशा में पहला चरण उठता है तब एक प्रकार की भावना होती है और जब चरण आगे बढ़ते हैं तब पूर्वभावना में परिवर्तन आने लगता है। मुझे लगता है कि जिस दिन कर्म से अकर्म की दिशा में प्रयाण हुआ, उस दिन एक प्रकार की भावना बनी थी, किंतु बीच में भावना में बहुत बदलाव आ गया। एक सूत्र पकड़ लिया—कर्म का शोधन करने के लिए कर्ता-भाव को छोड़ना होगा, सब-कुछ ब्रह्म के लिए समर्पित करना होगा। 'मैं करता हूं'—इस अहंकार का परित्याग करना होगा। उससे अकर्ताभाव प्राप्त होगा। यह सुंदर सूत्र था, पर इसका भी दुरुपयोग हुआ। आज इस सूत्र को आधार मानकर कुछ लोग कहते हैं—हम मिलावट करते हैं, अप्रामाणिकता करते हैं, पर हमारा उसमें कर्ताभाव नहीं है। होता है, यह सच है। हम कुछ नहीं हैं। जो कुछ अर्जन होता है, वह ब्रह्म के लिए है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है।

यह दोनों ओर की विकृति है। प्रारंभ में विकृति और अंत में भी विकृति। इस विकृत चिंतन से कर्म से अकर्म की ओर जाने की दिशा ही धुंधली हो गई। उसमें विकार आ गया। अकर्म की बात करते ही अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। ये प्रश्न अकारण नहीं हैं।

कर्ता अकर्ता कब ?

योगवाशिष्ठ का एक सुंदर श्लोक है—

अकर्तृ कुर्वदप्येतत्, चेतः प्रतनुवासनम्।
दूरंगतमना जन्तुः, कथासंश्रवणे यथा।।

इस श्लोक का आशय यह है कि आदमी कर्म करता हुआ भी अकर्म रह सकता है। प्रवृत्तियां करता हुआ भी वह यह दावा कर सकता है कि मैं कर्ता नहीं हूं। इस तथ्य ने एक उलझन पैदा कर दी। क्या प्रत्येक आदमी यह कह सकता है कि वह सब-कुछ करते हुए भी कर्ता नहीं है? यदि यह हो तो किसी को श्रेय नहीं दिया जा सकेगा और किसी को अश्रेय नहीं दिया जा सकेगा। कोई किसी को चांटा मारकर कह सकता है—यह मैंने नहीं किया, क्योंकि मैं तो कर्ता नहीं हूं। चोरी करके भी कह सकता है—मैं कर्ता तो हूं नहीं, मुझे क्या पता कि चोरी कैसे हुई? फिर कोई दोष का भागी नहीं होगा। योगवाशिष्ठकार ने इस उलझन का सुंदर समाधान भी श्लोक में प्रस्तुत कर दिया है। वही आदमी कर्ता होते हुए भी अकर्ता बन सकता है—जिसकी वासनाएं क्षीण हो चुकी हैं। जब तक वासना क्षीण नहीं होती, कषाय कम नहीं होते, तब तक आदमी कर्ता बना रहता है, लाख प्रयत्न करने पर भी अकर्ता नहीं बन सकता। कर्ता कैसे अकर्ता हो जाता है, इसको समझाते हुए योगवाशिष्ठकार कहते हैं—धर्म का उपदेश सुनने वाला व्यक्ति जब धर्म की बात सुनता है तब उसका मन दूसरी बात में चला जाता है, मन भटक जाता है। वह श्रोता अश्रोता बन जाता है। वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता। धर्म का श्रवण करते समय नींद सताने लग जाती है, पर सिनेमा में तीन-तीन घंटा बैठे रहने पर भी नींद का आक्रमण नहीं होता और धर्म-प्रवचन में प्रारंभ से ही वह सताने लग जाती है। यह क्यों? इसका एक कवि ने बहुत सुंदर समाधान दिया है, जो योगवाशिष्ठकार की बात की पुष्टि करता है। उस कवि ने एक श्लोक कहा—

निद्राप्रियो यः खलु कुम्भकर्णः, हतः समीके स रघुत्तमेन।
वैधव्यमापद्यत तस्य कान्ता, श्रोतुं समायाति कथापुराणम्।।

नींद का पति कुंभकर्ण था। राम-रावण के युद्ध में वह मारा गया। नींद बेचारी विधवा हो गई। विधवा के लिए धर्म-कथा को सुनने के सिवाय कोई काम नहीं रहता। वह बेचारी जहां कहीं धर्म-कथा होती है, वहां आकर सबके आगे बैठ जाती है। इसीलिए धर्म-श्रवण में लोगों को नींद सताती है, मन भटकता है।

जैसे धर्म-कथा सुनने वाला श्रोता अश्रोता बन जाता है, वैसे ही जिस व्यक्ति के चित्त में वासना क्षीण हो चुकी है वह कर्ता भी अकर्ता बन जाता है।

अकर्ता होने का दिग्भ्रम

आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि आदमी अपनी वासनाओं को क्षीण करना नहीं चाहता, परंतु अकर्ता बनने के लिए सतत लालायित रहता है। कर्म से अकर्म बनता है और कर्ता से अकर्ता बनता है—इस सूत्र को मानने

वाले लोग बहुत दिग्भ्रांत हो रहे हैं। वे वासनाओं को क्षीण करने का तनिक भी प्रयत्न नहीं करते और कर्ता से अकर्ता बनने का दंभ भरते हैं। वे कहते हैं—'मैं तो केवल कर्म करता हूं, उसमें मेरा कर्तृभाव नहीं है।' करोड़ों रुपयों की संपत्ति अर्जित कर ली, फिर भी कहेगा—'मेरा कोई कर्तृभाव नहीं है। मैं तो मात्र कर्तव्यदृष्टि से या किसी अज्ञात प्रेरणा से कार्य कर रहा हूं'—यह बहुत बड़ा दिग्भ्रम है।

कर्म अकर्म कैसे?

कर्ता अकर्ता कैसे बने? कर्म अकर्म कैसे बने? इसकी भूमिका को हम समझें।

एक क्रम या व्यूह है—वृत्ति-प्रवृत्ति-निवृत्ति। इसका प्रतिपक्षी क्रम है—वृत्ति का शोधन-प्रवृत्ति-निवृत्ति। प्रवृत्ति दोनों क्रमों में है। वह दोनों के मध्य है। वृत्ति के बाद भी प्रवृत्ति होगी और वृत्ति के शोधन के बाद भी प्रवृत्ति होगी। किंतु, जहां वृत्ति का शोधन हो गया, वहां प्रवृत्ति होगी और बाद में वास्तविक निवृत्ति होगी, पुनरावृत्ति नहीं होगी, कोई उलझन नहीं होगी। वृत्ति का शोधन हुए बिना आवृत्ति मिटती नहीं। किसी व्यक्ति ने एक दिन एक स्वादिष्ट पदार्थ खाया। दूसरे दिन थाली में यदि वह पदार्थ नहीं आता है तो उसकी स्मृति सताने लग जाती है, पुनरावृत्ति की अपेक्षा नजर आने लगती है। किंतु, जिस व्यक्ति ने शोधन कर लिया, उसको पुनरावृत्ति की अपेक्षा नहीं होती। उसको उस पदार्थ की स्मृति नहीं सताएगी। प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की मांग नहीं करेगी। जहां वृत्ति का शोधन नहीं होगा, वहां प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की मांग निश्चित ही करेगी। इससे कर्म का जाल विस्तृत होता जाता है। वृत्ति के शोधन का सूत्र हमारे हाथ से सचमुच निकल गया है और हाथ में रह गया केवल कर्ता से अकर्ता बनने और कर्म से अकर्म फलित करने के सिद्धांत का कलेवर। केवल कलेवर को लेकर हम घूम रहे हैं। यदि मूल प्राण, मूल सूत्र हमारे हाथ में होता तो अकर्म या अकर्ता होने की बात अवश्य ही फलित होती।

कर्म : सबसे बड़ा संकट

आज के संसार का सबसे बड़ा संकट है—कर्म। कर्म अर्थात् प्रवृत्ति। आज प्रवृत्तियों की इतनी प्रचुरता है कि आदमी क्षण-भर के लिए भी अकर्म नहीं रह सकता। इस प्रवृत्ति-बहुलता ने आदमी को अणु-अस्त्रों के निर्माण तक पहुंचा दिया। एक प्रवृत्ति को पूरा करने के लिए दूसरी प्रवृत्ति और दूसरी को पूरा करने के लिए तीसरी प्रवृत्ति अपेक्षित हो गई। इस चक्र का कहीं अंत नहीं है। तर्कशास्त्र के अनुसार प्रवृत्ति अनवस्था दोष से ग्रसित हो गई है। कहीं रुकावट नहीं है, व्यवस्था नहीं है। यह अनंतता है। यह प्रवृत्ति-बहुलता सबसे बड़ा संकट है। जब तक सक्रियता के साथ-साथ निष्क्रियता की बात समझ में नहीं आएगी, जब तक प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति का संतुलन नहीं होगा—तब तक यह संसार इस संकट से उबर नहीं पाएगा। तब निश्चित ही इस दुनिया को इन प्रवृत्तियों के दुश्चक्र से, आणविक अस्त्रों के विस्फोट से उत्पन्न अमावस की काली रात देखनी होगी।

डॉक्टर रोगी को कहता है—विश्राम करो। क्या यह कर्म से अकर्म की ओर जाने की सूचना नहीं है? जब शरीर, मस्तिष्क और हमारी ग्रंथियां अधिक सक्रिय हो जाती हैं, तब आदमी पागल हो जाता है। आदमी को स्वस्थ रहने के लिए मस्तिष्क को विश्राम देना जरूरी है। नेपोलियन बोनापार्ट 'वाटरलू' की लड़ाई में हार गया। क्यों हारा? यह सब नहीं जानते। कहा जाता है कि उसने सही समय पर सही निर्णय नहीं लिया। सही निर्णय नहीं ले सका, इसका भी एक कारण था। उसकी पिच्यूटरी ग्लैंड खराब हो गई थी। उसका रसस्राव अनियमित हो गया था, इसलिए वह सही निर्णय नहीं ले सका। आदमी की ग्रंथियां जब विकृत हो जाती हैं—तब चिंतन, मनन, निर्णय आदि में भी विकार आ जाता है। उचित समय पर उचित निर्णय लेने, सही बात कहने, उचित कार्य करने आदि में गड़बड़ी हो जाती है, तो अकल्पित घटनाएं घटित हो जाती हैं।

क्रिया-अक्रिया का संतुलन

अति-सक्रियता और अति-प्रवृत्ति के कारण आज इतनी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सारा संसार महासंकट के कगार पर खड़ा है। किसी के पास समय नहीं है। सब व्यस्तता में फंसे हैं। न जाने इससे कब, कैसे मुक्त हो सकेंगे? इस संकट से बचने का एकमात्र उपाय है—अकर्म, अक्रिया। अक्रिया का सिद्धांत केवल मोक्ष-प्राप्ति का ही सिद्धांत नहीं है, यह व्यावहारिक जीवन जीने का सिद्धांत भी है। जो व्यक्ति कर्म और अकर्म के संतुलन को नहीं जानता, वह सफल जीवन नहीं जी सकता। जो व्यक्ति क्रिया और अक्रिया के संतुलन को नहीं जानता, वह जीवन-यात्रा को आनंदमय ढंग से नहीं

चला सकता। अकर्म का बहुत बड़ा प्रश्न है। आत्म-साक्षात्कार के लिए हम अकर्म का अभ्यास करें—यह अच्छा है। किंतु, सफल जीवन जीने के लिए भी इसका अभ्यास करें।

एक यात्री बगीचे में गया। उसने देखा, सारे बगीचे में लंबे-लंबे पेड़ खड़े हैं। उसने माली से पूछा—पेड़ इतने लंबे क्यों? माली बोला—बाबूजी, पेड़ों के और काम ही क्या है?

आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह कहता है—करो, करो और करते ही रहो। वह करने को ही बड़ा मानता है। वह 'न करने' का मूल्य ही नहीं जानता।

हम यह मानकर नहीं चलें कि केवल कर्म करना ही हमारा जीवन-कार्य है। अकर्म बहुत आवश्यक है।

हमारा शरीर कोशिकाओं का एक पिंड है। ये कोशिकाएं विद्युत उत्पन्न करती हैं। वह विद्युत उतनी ही होती है, जितनी से उनका काम चल सके। अतिरिक्त विद्युत उत्पन्न नहीं होती। यदि आदमी उन कोशिकाओं से अधिक काम लेता है, तो विद्युत का व्यय अधिक होता है। नई कोशिकाओं को पैदा होने का अवसर ही नहीं मिलता। पुरानी कोशिकाएं टूटती जाती हैं, नई बनती नहीं। इससे शक्ति की क्षीणता होती है। आदमी प्रवृत्ति या कर्म करता ही रहे तो नई प्राण-ऊर्जा पैदा नहीं होती। उसके अभाव में आदमी बड़ा काम नहीं कर सकता।

अकर्म की साधना : जीवन का वरदान

अति-व्यस्तता या अति-प्रवृत्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी अच्छी नहीं है। वह आत्म-साधना में तो निश्चित ही बाधक है।

आनंद की उपलब्धि का मार्ग है—अकर्म की साधना।

एक बच्चे ने पूछा—'आत्मा कहां है?' मैंने कहा—'तुम्हारे भीतर है।' बच्चे ने कहा—'भीतर कहां? दिखाई नहीं देता।' मैंने कहा—'आंखें बंद करो। आत्मा को देखने का मार्ग मिल जाएगा।'—**पश्यन्नपि न पश्यति**—देखता हुआ भी नहीं देखता। आंख खुली होगी, नहीं दीखेगा। आंख बंद करो, जो नहीं दीख रहा है, वह भी दृष्टिगत होने लगेगा।

सिर की प्रेक्षा करें। मन उसमें लगाए रखें। आंख खुली है, पर दीखेगा नहीं। कान खुले हैं, पर सुनाई नहीं देगा। साधक वह है जो देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, चखता हुआ भी नहीं चखता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता। यह अकर्म की स्थिति है। यह साधना से उपलब्ध हो सकती है।

लोग अकर्म या निवृत्ति की बात सुनते ही चौंक जाते हैं। उनका तर्क है कि यदि अकर्म फलित हो जाएगा तो आदमी निठल्ला और अकर्मण्य बन जाएगा। सारा विकास बंद हो जाएगा। अकर्मण्य देश की वही गति होगी जो अविकसित देश की होती है। ऐसी आशंका करने वाले विचारक अकर्म के अर्थ को नहीं समझते। अकर्म का यह अर्थ नहीं है कि आदमी खाना छोड़ देगा। जब तक प्राण की यात्रा चलती है, तब तक आदमी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाना नहीं छोड़ता, वह खेती करना नहीं छोड़ सकता। वह जीना चाहता है। उसे खाना ही पड़ेगा। अन्न के लिए खेती आवश्यक है। इसलिए अकर्म से सब प्रवृत्तियां छूट जाएंगी—यह भ्रामक कल्पना है। मनुष्य की आदत है कि वह तर्क के जाल में सचाई को छिपा देना चाहता है। तर्क से सचाई छिप जाती है। यही अकर्म के विषय में हुआ। अकर्म का सिद्धांत मानव के लिए एक वरदान था, महामूल्यवान था। यह जीवन का महान सूत्र था। वह भुला दिया गया। ज्योति को राख से ढंक दिया गया।

जब तक मनुष्य इस राख को नहीं हटा सकेगा, ज्योति प्रकट नहीं होगी। जब तक मन, वाणी और शरीर को निष्क्रिय बनाने के सिद्धांत का मूल्य नहीं समझेंगे तब तक मनुष्य-जाति का उद्धार नहीं होगा। मन का शल्य समाप्त नहीं होगा, तो मंजिल प्राप्त नहीं होगी।

तीन शल्य हैं—माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्या-दर्शन शल्य। इनको मिटाने का एकमात्र उपाय है—अकर्म की साधना, अक्रिया की साधना। ❖

चिंताएं, परेशानियां, दुख और तकलीफें परिस्थितियों से लड़ने से दूर नहीं हो सकतीं;
वे दूर होंगी अपनी भीतरी दुर्बलता दूर करने से; जिसके कारण ही वे पैदा हुई हैं।

— **स्वामी रामतीर्थ**

क्या कोई भी धर्म अकेले ही हमारे युग की चुनौतियों का सामना कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें वास्तविक धर्म और मिथ्या धर्म के अंतर को समझना होगा। चूंकि सच्चा-धर्म कभी भी हिंसा, असहिष्णुता, धार्मिक-कट्टरता का समर्थन नहीं करता है। अतः धर्म के नाम पर अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करने वाले धार्मिकों द्वारा किए जाने वाले किसी भी तरह के घृणित कार्यों के लिए धर्म कभी भी उत्तरदाई नहीं माना जा सकता है।

मानवीय एकता; शांति और सामंजस्य : जैन दृष्टि

प्रो. सागरमल जैन

वर्तमान समय में जिन ज्वलंत समस्याओं का विश्व सामना कर रहा है, उनमें धार्मिक मतांधता और असहिष्णुता अत्यंत जटिल समस्याएं हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में चामत्कारिक प्रगति से मानव-समाज को यातायात और संचार के द्रुतगामी साधन सुलभ हुए हैं। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न राष्ट्रों, संस्कृतियों एवं धर्मों के लोगों से संपर्क करने में हजारों किलोमीटर की दूरी भी अब बाधा नहीं रही है। इस दृष्टि से हमारा विश्व सिमटता जा रहा है, परंतु दुर्भाग्य से आपसी वैमनस्यता एवं घृणा के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच हृदय की दूरी भी दिन-ब-दिन ज्यादा होती जा रही है। आपसी पारस्परिक प्रेम, सहयोग और विश्वास विकसित करने के बजाय हम आपसी विद्वेष एवं शत्रुता को ही बढ़ावा दे रहे हैं। इसी प्रकार सह-अस्तित्व एवं सद्भावना के जीवनमूल्यों की भी हम अनदेखी कर रहे हैं। परमाणु शस्त्रों के प्रति हमारी अंधी एवं उन्मत्त दौड़ इस बात का स्पष्ट संकेत है कि हम मानव-जाति के विनाश की चिता तैयार कर रहे हैं। कविगुरु रवींद्रनाथ टैगोर ने सही कहा था—'मनुष्य के लिए एक-दूसरे के निकट आकर भी मानवता के दायित्वों (मानवीय गुणों) की उपेक्षा करना निश्चित ही मानव-जाति की आत्महत्या की ही प्रक्रिया होगी।'[1]

वर्तमान परिस्थितियों में मानव-जाति को बचाने का केवल एक ही उपाय है—मानवीय समाज में पारस्परिक सहयोग एवं सह-अस्तित्व के जीवनमूल्यों के प्रति दृढ़ विश्वास की भावना विकसित की जाए। इस हेतु धार्मिक सहिष्णुता और विभिन्न धर्मों के बीच मैत्री भाव हमारे युग की सबसे पहली जरूरत है।

मानवता : एकता के सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी

निःसंदेह हम सभी भिन्न-भिन्न आस्थाओं, धर्मों तथा संस्कृतियों से आबद्ध हैं। हमारी साधना-पद्धतियां और कुछ हद तक हमारे जीने के ढंग भी भिन्न हैं। हमारे दार्शनिक दृष्टिकोण एवं विचारधाराएं भी भिन्न-भिन्न हैं। इन सब विविधताओं के बीच भी मानवीय एकता का एक सामान्य सूत्र है, जो हम सभी को आपस में जोड़ता है और वह 'मानवता' के अलावा दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता है। हम सभी उसी मानव-जाति से संबंधित हैं। दुर्भाग्य से वर्तमान में हमने मानवता को गौण कर दिया है और जाति, रंग तथा पंथ-भेद पर आधारित आपसी

मतभेद हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। हम सभी अपनी मूलभूत एकता को भूल चुके हैं। ऊपरी तौर पर दिखाई देने वाली भिन्नताओं को आधार बनाकर आपस में लड़ रहे हैं, परंतु हमें एक बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि केवल मानवता ही एक ऐसी कड़ी है, जिसके आधार पर भिन्न-भिन्न आस्थाओं, धर्मों, संस्कृतियों और राष्ट्रीयताओं के लोगों को आपस में जोड़ा जा सकता है। जैनाचार्यों ने मानव-जाति का प्रतिपादन किया है। 'एगे माणुस जाइ'[2]—वस्तुतः, जाति, रंग और पंथ-भेद संबंधी मतभेद न केवल सतही हैं, अपितु मानव-मन की ही उपज हैं। ये भेदरेखाएं स्वयं हमने खींची हैं।

सच्चा धर्म क्या है

सभी धर्मों का मूल लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए शाश्वत शांति एवं आनंद को सुनिश्चित करना और मानव-समाज में सामंजस्य स्थापित करना ही है। यद्यपि विश्व-इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि धर्म के नाम पर अनगिनत युद्ध लड़े गए हैं, जिनमें मानव-जाति का अपरिमित खून बहा है। निःसंदेह, इसके लिए धर्म नहीं, अपितु तथाकथित रूप से धार्मिक कहे जाने वाले या धर्म के नाम पर अपने हितों का पोषण चाहने वाले व्यक्ति ही इन जघन्य दुष्परिणामों के लिए जिम्मेदार हैं। वर्तमान में भी धर्म को पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया है और केवल निजी या राजनीतिक लाभ के लिए एक साधन के रूप में उसका इस्तेमाल किया जा रहा है। यदि कोई यह समझता है कि केवल उसका धर्म, उसकी साधना-पद्धति या उसकी राजनीतिक विचारधारा ही मानव-समाज में सुख-समृद्धि और शांति स्थापित करने का एकमात्र विकल्प है, तो वह अन्य विचारधारा के प्रति कभी भी सहिष्णु नहीं हो सकता है। जबकि मानव-समाज में एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता एवं मैत्रीभाव को विकसित करने की प्रबल आवश्यकता है। केवल यही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा समाज में शांति और सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

क्या कोई भी धर्म अकेले ही हमारे युग की चुनौतियों का सामना कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हमें वास्तविक धर्म और मिथ्या धर्म के अंतर को समझना होगा। चूंकि सच्चा-धर्म कभी भी हिंसा, असहिष्णुता, धार्मिक-कट्टरता का समर्थन नहीं करता है। अतः धर्म के नाम पर अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करने वाले धार्मिकों द्वारा किए जाने वाले किसी भी तरह के घृणित कार्यों के लिए धर्म कभी भी उत्तरदाई नहीं माना जा सकता है। धर्म के नाम पर जो बर्बरताएं अतीत में हुई हैं और वर्तमान में जो पापकर्म हो रहे हैं, उनके मूल में तथाकथित धार्मिक-नेताओं और उनके अंध-अनुयाइयों की असहिष्णुता एवं धर्मांधता ही प्रमुख कारण हैं।

इस घृणित स्थिति से यदि कोई अपने को मुक्त करना चाहता है तो इसका केवल एक ही उपाय है कि धर्म के सारतत्त्व को पकड़कर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे और साथ ही दूसरों की विचारधारा एवं धार्मिक आस्था के प्रति सहिष्णुता एवं सम्मान की भावना को अपने में विकसित करे।

जैनाचार्यों के लिए सच्चा धर्म समत्वभाव की साधना में सन्निहित है और अहिंसा का पालन करना उसकी आधारशिला है। सबसे प्राचीन जैन आगम आचारांग सूत्र (ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी) में हम धर्म की दो परिभाषाएं पाते हैं—'समभाव की साधना धर्म का सारतत्त्व है' और 'अहिंसक व्यवहार उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है' या 'धर्म का सामाजिक पहलू' है। आचारांग में उल्लेखित है—'अहिंसक-आचरण ही सच्चा और शाश्वत धर्म है।'

जैन धर्म अपने उद्भव-काल से ही मानव-समाज को शांति, सामंजस्य और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता आया है और इन्हीं सार्वभौमिक मूल्यों में विश्वास करता है। जैन धर्म के विकास का इतिहास बताता है कि वह अपने अभ्युदयकाल से ही अन्य धर्मों और धार्मिक विचारधाराओं के प्रति सहिष्णु एवं समादर-भाव से युक्त रहा है। जैन धर्म के इतिहास में धार्मिक-युद्ध का मुश्किल से ही कोई उदाहरण मिलेगा, जिसमें हिंसा या खून-खराबे को धर्म का जामा पहनाया गया हो। वह वैचारिक मतभेदों की चर्चा कर अनेकांत दृष्टि से उन्हें सुलझाने का ही प्रयत्न करता रहा है। जैनाचार्यों की शिक्षा यह है कि दूसरों की विचारधारा एवं धार्मिक सिद्धांतों पर अपना मत रखते समय उन्हें पूर्ण आदर देना चाहिए तथा यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उनकी धारणाएं भी किसी निश्चित दृष्टिकोण से न्यायसंगत हो सकती हैं।

मानवता : धर्म का सच्चा स्वरूप

निःसंदेह, सबसे पहले तो हम मनुष्य हैं, तत्पश्चात्

कुछ और हैं। जैसे—हिंदू, मुस्लिम, जैन या बौद्ध। सच्चा हिंदू या मुसलमान आदि होने की पहली शर्त है—सच्चा इनसान होना। हमारा प्राथमिक धर्म यह है कि हम सही अर्थों में मानव बनें। यही बात प्राचीन जैन ग्रंथ उत्तराध्ययन सूत्र में भी प्रतिध्वनित हुई है। भगवान महावीर ने सच्चा धार्मिक होने के लिए निम्न चार शर्तें निर्धारित की हैं—1. मानवता 2. सच्ची श्रद्धा 3. इंद्रिय संयम तथा 4. आत्मशुद्धि हेतु प्रयत्न या पुरुषार्थ।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक होने की उपर्युक्त चार शर्तों में मानवता का स्थान ही सबसे पहला है।

जैन धर्म में धर्म को 'वस्तु का स्वभाव' के रूप में परिभाषित किया गया है। 'वत्थु सहावो धम्मो'[4]—इस परिभाषा के आलोक में कहा जा सकता है कि मानवता मनुष्य का वास्तविक धर्म है, क्योंकि यही उसका स्वभाव है। मनुष्य होने के नाते यदि हम मनुष्यता के समान व्यवहार नहीं करते हैं, तो हमें धार्मिक कहलाने का—यहां तक कि मनुष्य कहलाने का भी—कोई अधिकार नहीं है। इस संदर्भ में हमारे युग के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं वैज्ञानिक बर्ट्रेंड रसेल के निम्न वक्तव्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वे कहते हैं—'मैं एक मनुष्य होने के नाते, मैं मनुष्यों से अनुरोध करता हूं कि हम अपनी मानवता को याद रखें और शेष सब-कुछ भूल जाएं। यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो हमारे जीवन में स्वर्ग का एक नवद्वार उद्घाटित होगा और यदि नहीं, तो सार्वभौमिक मृत्यु के अलावा हमारे समक्ष अन्य कुछ भी विकल्प नहीं है।'[5] इस प्रकार मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि मानवता ही हमारा सबसे पहला धर्म है।

मानवता क्या है

यहां यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि मानवता शब्द से हमारा क्या तात्पर्य है? इसका उत्तर सरल है। मानवता अपने-आप में कुछ भी नहीं है, अपितु मनुष्य के व्यवहार में आत्मचेतना, विकेकशीलता और आत्म-संयम की उपस्थिति ही मानवता है। हमारे युग के सभी मानवतावादी विचारकों द्वारा मनुष्य को दूसरे प्राणियों से मनोवैज्ञानिक आधार पर अलग करने के लिए इन तीनों गुणों को आधारबिंदु के रूप में मान्य किया गया है। इन तीनों मूल प्रवृत्तियों को जैन धर्म की 'त्रिरत्न-अवधारणा' में भी समझाया गया है, जो कि क्रमशः इस प्रकार है—सम्यक्दर्शन (आत्मजाग्रति), सम्यक्ज्ञान (विवेक) और सम्यक्चारित्र (संयम)। ये त्रिरत्न ही मनुष्य की मुक्ति का मार्ग बनते हैं[6] और उसे यथार्थ में मनुष्य बनाते हैं। किसी मनुष्य के आचरण में इन तीनों गुणों की उपस्थिति उसे पूर्ण मानव का दर्जा प्रदान करती है और यही मानवता है।

मैत्रीभाव : अनेकता में एकता

जैन विचारक दृढ़ता से यह कहते हैं कि अनेकता में ही एकता अंतर्निहित है। उनके अनुसार एकता और अनेकता एक ही सत्ता के दो पहलू हैं। सत्ता अपने-आप में अनेकता में एकता है। निरपेक्ष एकता, अर्थात् अद्वैतवाद एवं निरपेक्ष अनेकता, अर्थात् बहुतत्त्ववाद— इन दोनों ही सिद्धांतों से जैन विचारक सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सामान्य दृष्टि से तो 'सत्' एक ही है, परंतु विशेष दृष्टि से वह अनेक भी है। एक बार भगवान महावीर से प्रश्न पूछा गया कि 'भगवन्! आप एक हैं कि अनेक?' भगवान महावीर ने उत्तर दिया था—'तात्त्विक विचारणा से तो मैं एक हूं, परंतु शरीर एवं मन की बदलती हुई पर्यायों की विचारणा से मैं प्रतिपल भिन्नता को प्राप्त कर रहा हूं, इस प्रकार से अनेक भी हूं।' इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए आचार्य मल्लिषेण कहते हैं—'जो एक है, वही अनेक भी है[7]।' वस्तुतः अनेकता में एकता ही प्रकृति का नियम है। प्रकृति तो सर्वत्र एक ही है, परंतु उसमें अनेकता है, क्योंकि प्राकृतिक घटनाएं एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। यही बात मनुष्य के संदर्भ में भी लागू होती है। यद्यपि सभी व्यक्तियों में कुछ सामान्य और विशिष्ट गुण होते हैं, तथापि वैयक्तिक आधार पर प्रत्येक व्यक्ति उसमें विद्यमान विशेष गुणों के कारण एक-दूसरे से भिन्न होता है। विश्व के सभी धर्मों के बारे में भी यही ध्रुव सत्य है। सभी धर्मों में कुछ सार्वभौमिक तत्त्व समान हैं। यही उनकी मूलभूत एकता है। साथ ही प्रत्येक धर्म की अपनी-अपनी विशिष्टताएं भी हैं, जो उसे दूसरे धर्म से अलग करती हैं, इस दृष्टि से धर्म अनेक भी है। आपसी भाईचारा, जरूरतमंदों की सेवा, सत्यवादिता, ईमानदारी, इंद्रियों पर नियंत्रण आदि सर्वमान्य सद्गुण विश्व के सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक धर्म के लोग अपने से भिन्न धर्म के लोगों के साथ सद्व्यवहार कर सकते हैं और यही उनकी मूलभूत एकता है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में इन सभी सर्वमान्य सद्गुणों को, जो कि धर्म का सारतत्त्व हैं, हम भुला चुके हैं और बाहरी विधि-विधान या आडंबरों को, जो कि प्रकृति से भिन्न-भिन्न हैं, अधिक

महत्त्व दे रहे हैं। इस प्रकार हम सभी धर्मों में सामान्य रूप से अंतर्निहित सद्गुणों पर आधारित एकता को भूलकर, बाहरी भिन्नताओं को पकड़कर—अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। परिणामस्वरूप पारस्परिक-विद्वेष की खाई गहरी होती जा रही है।

यद्यपि मैं सभी धर्मों में निहित मूलभूत एकता पर जोर दे रहा हूं, किंतु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं एक विश्वधर्म का समर्थन करता हूं या भिन्न-भिन्न धर्मों की विशिष्टताओं एवं विविधताओं को चोट पहुंचा रहा हूं। वस्तुतः मैं यह कहना चाहता हूं कि निरपेक्ष एकता और निरपेक्ष अनेकता—दोनों ही भ्रामक अवधारणाएं हैं। धर्मों के बीच मैत्रीभाव का अर्थ अनेकता में ही एकता को देखना है।

पारस्परिक सहयोग : प्राणी-जगत का मूलभूत स्वभाव

जैनाचार्यों की दृष्टि में पारस्परिक सहयोग और सह-अस्तित्व जीवजगत के मूलभूत तत्त्व हैं। डार्विन का यह कथन कि 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' और संस्कृत कहावत 'जीवोजीवस्य भोजनम्' उन्हें स्वीकार नहीं है। वे निश्चयात्मकतापूर्वक कहते हैं कि संघर्ष नहीं, अपितु पारस्परिक सहयोग ही जीवन का शाश्वत नियम है। आचार्य उमास्वाति (ईसा की चौथी शताब्दी) के द्वारा लिखित ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पारस्परिक सहयोग ही जीवन का स्वभाव है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[8]—जीवन की उत्पत्ति, विकास और उसका अस्तित्व जीवन के दूसरे रूपों के सहयोग पर ही आधारित है। मानव-समाज के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है। समाज का अस्तित्व और उसका विकास सभी लोगों के पारस्परिक सहयोग, एक-दूसरे के लिए त्याग एवं सम्मान की भावना पर निर्भर हैं। यदि हम सोचते हैं कि हमें दूसरों के सहयोग की जरूरत है, तो अन्य लोगों का सहयोग करना भी हमारा नैतिक कर्तव्य है। जीवन की समानता के सिद्धांत का अभिप्राय यही है कि जीने का जितना अधिकार आपको है, दूसरे प्राणियों को भी जीने का उतना ही अधिकार है। इस सिद्धांत के प्रकाश में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी मनुष्य को दूसरे मनुष्य की, यहां तक कि प्राणीमात्र की हिंसा करने का कोई अधिकार नहीं है। अतः जैनाचार्यों के अनुसार जीवनयात्रा का सिद्धांत 'दूसरे जीवों पर भार बनकर' या 'दूसरे जीवों को मारकर' जीना नहीं होकर 'दूसरों के साथ जीना' या 'दूसरों के लिए जीना' रहा है। वे उद्घोष करते हैं कि 'पारस्परिक सहयोग और सह-अस्तित्व प्राणीजगत के मूलभूत तत्त्व हैं। यदि ऐसा है, तो हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि धार्मिक समन्वय और सभी धर्मों के बीच मैत्रीभाव ऐसे सिद्धांत हैं, जिनका पालन प्रत्येक मनुष्य को हृदय से करना चाहिए।

एक विश्वधर्म : एक कल्पना मात्र है

धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को रोकने एवं संघर्षों को समाप्त करने के लिए कुछ लोग एक विश्वधर्म का नारा देते हैं। परंतु, न तो यह संभव है और न ही व्यावहारिक। जब विचारों एवं आदतों, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और बौद्धिक स्तर को लेकर मनुष्यों में विविधता विद्यमान है, तो धार्मिक विचारधाराओं एवं साधना-पद्धतियों में भिन्नता स्वाभाविक है। समदर्शी आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं—'ऋषियों के उपदेशों में जो भिन्नता है, वह उपासकों की योग्यताओं की भिन्नता या उनके स्वयं के द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण में भिन्नता या देशकालगत भिन्नता के आधार पर है। जिस प्रकार से एक वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता, अथवा रोग की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न औषधि प्रदान करता है, यही बात धार्मिक उपदेशों की भिन्नता पर भी लागू होती है।'[9] अतः सभी धर्मों में मैत्रीभाव के लिए एकता और अनेकता—दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं तथा किसी एक को भी हमें क्षति नहीं पहुंचाना चाहिए। जिस प्रकार एक बगीचे की सुंदरता भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों, फलों एवं पौधों के कारण होती है, ठीक उसी प्रकार से धर्मरूपी बगीचे की सुंदरता भी भिन्न-भिन्न विचारों, आदर्शों और साधनागत विविधताओं पर आधारित है।

सभी धर्मों के प्रति समादर-भाव

जैनाचार्यों के अनुसार सभी धर्मों एवं आस्थाओं के प्रति समादर-भाव ही धार्मिक सहिष्णुता और धर्मों के बीच मैत्री का आधार है। जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं—'जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न जब तक एक सूत्र में आबद्ध नहीं होते, वे रत्नों के हार का निर्माण नहीं करते और न वे मानव के कंठाभरण बनकर शोभा को प्राप्त होते हैं, यही स्थिति विभिन्न धर्मों एवं विश्वासों की

है। चाहे प्रत्येक धर्म की अपनी विशेषताएं हों, किंतु जब तक वे आपस में मैत्री के सूत्र में संगठित नहीं होते और एक-दूसरे के प्रति समादर का भाव नहीं रखते, तब तक वे मानवता के लिए मंगलप्रद नहीं हो सकते हैं। इसके विपरीत परस्पर एक-दूसरे के विरोध में खड़े होकर वे घृणा और संघर्ष को ही जन्म देते हैं और धर्म के नाम को भी सार्थक नहीं करते हैं।'[10]

एक बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि हम अन्य धर्मों या धार्मिक आस्थाओं को अपने धर्म की अपेक्षा हीन या मिथ्या समझते हैं, तो विभिन्न धर्मों के बीच सही अर्थों में सामंजस्य संभव नहीं होगा। हमें सभी धर्मों एवं धार्मिक आस्थाओं को समान रूप से आदर देना होगा। प्रत्येक धर्म एवं उसकी साधना-पद्धति का उद्भव एक विशेष सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में होता है और उसी परिप्रेक्ष्य में उसकी उपयोगिता का सम्यक् मूल्यांकन संभव होता है। जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंग अपने-अपने निश्चित स्थान पर स्थित होकर कार्य करते हैं तथा शरीर में अपने स्थान और कार्य की अपेक्षा से प्रत्येक अंग की अपनी उपयोगिता होती है, वे सभी संगठित होकर एक अखंड शरीर के हित में ही कार्य करते हैं, यही बात विभिन्न धर्मों के संदर्भ में भी लागू होती है। सभी धर्मों का सामान्य लक्ष्य तो मानव-जीवन एवं मानव-समाज में व्याप्त तनावों एवं संघर्षों का निराकरण कर पृथ्वी पर मानव-जीवन को शांतिमय बनाना है। इस हेतु प्रत्येक धर्म को उसकी अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार उसके अपने तरीके से काम करने के लिए आगे आना होगा। यदि कोई धर्म इस लक्ष्य-विशेष को हासिल करने के लिए काम करता है, तो ऐसे धर्म को अपना अस्तित्व बनाए रखने और तदनुसार काम करने का पूर्ण अधिकार है एवं अन्य धर्मों के समान ही उसे आदर दिया जाना चाहिए।

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ईसा की पांचवीं शताब्दी) के अनुसार किसी भी धर्म पर मिथ्यावादी होने का दोषारोपण तभी हो सकता है, जबकि वह अन्य धर्मों की मान्यताओं का खंडन करता है और केवल अपने ही धर्म के पूर्ण सत्य होने का दावा करता है। यदि वह अन्य धर्मों में निहित सत्यांशों को भी स्वीकार करता है, तो निःसंदेह वह भी सत्यपरायण कहलाने का अधिकारी होता है। वे आगे कहते हैं—'प्रत्येक विचारधारा या धर्म अपनी उद्भव परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सही होता है, परंतु उनमें से प्रत्येक यदि स्वयं के ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता है और अन्य धर्मों का अनादर करता है, तो वह सच्चा धर्म नहीं हो सकता है। इसी प्रकार जब वह किसी दूसरे धर्म-विशेष की धार्मिक आस्थाओं, उनके विश्वास एवं सिद्धांतों का खंडन करने का प्रयास करता है, तो वह धर्म मिथ्यावादी हो जाता है।'[11] जैनाचार्यों की दृष्टि में किसी विचारधारा या धर्म-विशेष का सत्य होना, उसके द्वारा दूसरे धर्मों या विचारधाराओं के भी सत्य होने की स्वीकारोक्ति पर निर्भर करता है। सिद्धसेन स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो लोग अनेकांत दृष्टि को स्वीकार करते हैं, वे कभी भी सही या गलत आधार पर विभिन्न धर्मों में विभेद नहीं करते हैं और सभी धर्मों के प्रति समादर भाव रखते हैं।[12] वर्तमान समय में, जबकि सांप्रदायिक सौहार्द तथा सामाजिक संतुलन के लिए धार्मिक मतांधता एक गंभीर खतरा बनती जा रही है, विश्व के सभी धर्मों में मैत्रीभाव न केवल आवश्यक है, बल्कि यही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा मानव-जाति को इस संकट से बचाया जा सकता है।

जैनाचार्य विश्व के सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते हैं, परंतु एकता से उनका आशय ऐसी सर्वग्रासी एकता से नहीं है, जिसमें सभी धर्मों का स्वतंत्र अस्तित्व एवं पहचान ही मिट जाए। वे धर्मों की उस विशेष एकता में विश्वास करते हैं, जिसमें सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित सद्गुणों पर आधारित मूलभूत अखंडता को बनाए रखने के लिए सभी धर्म परस्पर एक-दूसरे से जुड़ें तथा जिसमें प्रत्येक धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व एवं पहचान अक्षुण्ण रहे। साथ ही सभी धर्मों के प्रति सबका समादर-भाव हो। दूसरे शब्दों में, वे सभी धर्मों के मैत्रीपूर्ण अस्तित्व और धर्म के मूलभूत लक्ष्य, अर्थात् मानव-जाति के कल्याण के लिए काम करने में विश्वास करें। इस धरा पर से धार्मिक संघर्षों एवं हिंसा की जड़ें काटने का एकमात्र उपाय यह है कि मानव-समाज में सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण विकसित किया जाए और सभी धर्मों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया जाए। ❖

अनुवाद : डॉ. राजेन्द्र जैन

संदर्भ :

1. David C.V., The Voice of Humanity, (Manikchand Depot. Ujjain) P. 1

शेष पृष्ठ 24 पर

जैन दर्शन में कर्म सिद्धांत का विशद विवेचन हुआ है। शरीर रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक। बंधन से मुक्ति तक गहन चिंतन कर्मशास्त्र का अपना वैशिष्ट्य है। कर्म के स्वरूप, कार्य, बंध-हेतु, कर्म के प्रकार, जीव और कर्म का पौर्वापर्य, कर्म की स्थिति, कर्म का विपाक आदि विषयों पर मौलिक चिंतन की प्रस्तुति जैन दर्शन की देन है। जगत की विचित्रता या विभक्ति भाव का हेतु कर्म ही है।

कर्मवाद की विलक्षणता

साध्वी डॉ. योगक्षेमप्रभा

जगत का वैचित्र्य कर्मजन्य है—यह तथ्य प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में सम्मत है। कर्म-सिद्धांत के यथार्थ अवबोध के बिना आत्मवाद को समग्रता से समझना संभव नहीं है। भारत के विभिन्न दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, अदृष्ट, संस्कार आदि शब्द कर्म के संवादी हैं। वेदांत दर्शन—अविद्या, बौद्ध—वासना, सांख्य—क्लेश, न्याय-वैशेषिक—अदृष्ट तथा जैन—कर्म कहते हैं।

कर्मवाद जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। जैन दर्शन स्वतंत्र तत्त्व के रूप में इसे मान्य करता है। जैन दृष्टि से कर्म पौद्गलिक है, आत्मिक या चैतसिक नहीं। कर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है—आत्मा की प्रवृत्ति से आकृष्ट कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों—चतुःस्पर्शी, अनंत प्रदेशी कार्मण वर्गणा के स्कंध को कर्म कहते हैं।[1] कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही कर्म संज्ञा प्राप्त होते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कर्म की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है—शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और संबंधित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं, आत्मा द्वारा गृहीत उन पुद्गलों का नाम है कर्म।[2]

उत्तराध्ययन वृत्ति में कर्म को परिभाषित करते हुए शांत्याचार्य ने लिखा है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन आश्रवों से अनुगत आत्मा द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।[3] उत्तराध्ययन सूत्र में राग और द्वेष—ये दो कर्म के हेतु निरूपित किए गए हैं।

कर्म के परमाणु व्यक्ति के साथ अपने-आप संबंध स्थापित नहीं करते। जीव अपनी प्रवृत्ति के द्वारा परमाणु स्कंधों को आकर्षित करता है। जीव उन्हीं कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है जो उसके प्रदेशों में अवगाढ़ होते हैं। इसका तात्पर्य है कि जिन आकाश प्रदेशों पर आत्मा के प्रदेश व्याप्त होते हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों पर रहे हुए कर्म-पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। किंतु, उन आकाश प्रदेशों के अनंतर और परंपर प्रदेशों में अवगाढ़ कर्म-पुद्गलों को वह ग्रहण नहीं करता।

कर्म की रासायनिक प्रक्रिया

आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का संबंध कैसे स्थापित होता है? यह प्रश्न सहज ही उभरता है। आत्मा और कर्म में, चेतना और पुद्गल में एकात्मकता कैसे स्थापित हो सकती है? एकात्मकता दो विरोधी द्रव्यों में कभी नहीं होती, संबंध हो सकता है। कर्म कर्म ही रहेंगे, चेतना चेतना ही रहेगी।

स्वरूपजन्य परिवर्तन नहीं होगा। संयोगकृत परिवर्तन दोनों में होगा।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार आत्मा कभी पुद्‌गल को आकर्षित नहीं करती। किंतु, इसके पास एक माध्यम है, जिसके द्वारा वह पुद्‌गल को आकर्षित करती है। वह माध्यम है—भावकर्म या आश्रव। आश्रवों के बिना कर्म का आकर्षण नहीं हो सकता और न कर्मों का विशेष संरचनात्मक रूप ही बन सकता है। भावकर्म के द्वारा द्रव्य कर्मों का आकर्षण होता है। भावकर्म जैविक-रासायनिक प्रक्रिया है, जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया। सूक्ष्म शरीर योग है, अतः संबंध स्थापित होता है।[4]

कर्मबंध कैसे

कर्मबंध की प्रक्रिया में महावीर से पूछा गया— भंते! कर्मबंध कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? प्रत्युत्तर में भगवान महावीर ने कहा—जब ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। जब जानने पर आवरण आता है तो देखने पर भी उदय आता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शनमोह का तीव्र उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है।[5]

कर्मबंध के कारण

भगवती सूत्र में कांक्षा मोहनीय कर्मबंध के हेतुओं का प्रतिपादन करते हुए प्रमाद और योग को कर्मबंध का मुख्य हेतु बतलाया है।[6] प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आदि में संक्षेप में राग और द्वेष को कर्म का कारण बतलाया है।[7] स्थानांग में चार हेतुओं का उल्लेख है। वहां पांच आश्रवों को भी कर्मबंध के हेतु प्रतिपादित किया गया है।[8] आचार्य उमास्वाति ने मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन पांच आश्रवों को कर्मबंध का हेतु प्रतिपादित किया है।[9]

आठ कर्मों में बंधकारक कर्म दो हैं—मोहकर्म और नामकर्म। प्रमाद मोहकर्म की सूचना देने वाला पद है। योग नामकर्म का संसूचक है। शरीर नामकर्म के उदयकाल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है।

मोहकर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है, तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है। मोहरहित प्रवृत्ति करते समय शरीर नामकर्म के उदय से जीव शुभकर्म का बंध करता है।

बंध आत्मा और कर्म के संबंध की प्रथम अवस्था है। वह चार प्रकार की है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[10] दो काल हैं—एक क्रिया का काल एवं दूसरा कर्मबंध का काल। जब कोई प्रवृत्ति होती है, उसी क्षण कर्म का बंध हो जाता है। कर्म-परमाणुओं का अर्जन क्रिया का परिणाम है। कर्मों के संग्रह की इस अवस्था को प्रदेशबंध कहते हैं। दूसरी अवस्था कर्म-परमाणुओं के स्वभाव निर्माण की है। कौन-सा कर्म किस स्वभाव का होगा, उसे प्रकृतिबंध कहा जाता है।

तीसरी अवस्था कर्म परमाणुओं से रसशक्ति के निर्माण की है। कौन-से कर्म में कितनी रसशक्ति है, इस अवस्था को अनुभागबंध कहा जाता है। चौथी अवस्था है कर्म-परमाणुओं के स्थितिकाल की। कौन-सा कर्म आत्मा के साथ, कितने समय तक रह पाएगा—इस अवस्था को स्थितिबंध कहा जाता है।

जीव और पुद्‌गल का संबंध

जीव और पुद्‌गल के संबंध को स्पष्ट करते हुए भगवान महावीर ने कहा—जीव और पुद्‌गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़, स्नेह प्रतिबद्ध और एक घटक के रूप में रहते हैं।[11] आचार्य सिद्धसेन ने जीव और पुद्‌गल के संबंध को क्षीर-नीरवत् बतलाया है। उन्होंने जीव और पुद्‌गल के संबंध की अनेकांत दृष्टि से व्याख्या की है। उन्होंने सन्मति प्रकरण में कहा है—जीव और पुद्‌गल दूध-पानी की तरह परस्पर ओतप्रोत हैं, इसलिए उनमें यह विभाग करना उचित नहीं है कि यह जीव है और वह पुद्‌गल है।

यह जीव और पुद्‌गल का अभेदात्मक प्रतिपादन है। रूप आदि तथा बाल्य, यौवन आदि पर्याय शरीरगत होते हैं। पर वे जीव से अप्रभावित हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। जीव में इंद्रियज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि के पर्याय होते हैं, उन्हें भी पुद्‌गल से अप्रभावित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से जीव और पुद्‌गल में प्रगाढ़ संबंध स्थापित होता है। उनका तात्त्विक स्वरूप भिन्न है, अतः उनमें स्वरूपगत भेद भी हैं।

जीव और पुद्‌गल का संबंध भौतिक होता है या अभौतिक? इस प्रश्न का समाधान यह है कि संसारी जीव सर्वथा अभौतिक नहीं होता अतः दोनों के संबंध को भौतिक माना जा सकता है। जीव और पुद्‌गल, दोनों

परस्पर स्नेह प्रतिबद्ध हैं। जीव में स्नेह है, आश्रव और पुद्गल में स्नेह है, आकर्षित होने की अर्हता है।

पाश्चात्य दर्शन : संबंध की समस्या

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मनस् (Mind) और शरीर (Body) के संबंध की बात पुरानी है। जैन दृष्टि से मन अचेतन है, किंतु पाश्चात्य दार्शनिक चेतन सत्ता के लिए 'मनस्' शब्द प्रयुक्त करते हैं। रेने देकार्त ने शरीर और मन को परस्पर भिन्न निरपेक्ष सत्ता मानते हुए उनके संबंध को अंतःक्रिया (Interaction) से समझाया है। स्पिनोजा ने समानांतरवाद से शरीर और मन के संबंध की व्याख्या की है। लाइबनित्स ने कार्य-कारणवाद के आधार पर उन्हें समझाया है। देकार्त, स्पिनोजा और लाइबनित्स ने शरीर-मनस् संबंध की गुत्थी सुलझाने का काफी प्रयत्न किया। उनका समाधान दार्शनिक निकष पर पूर्ण सिद्ध नहीं हुआ। सबके सिद्धांत गहरी आलोचना के शिकार बने।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी शरीर और मन का संबंध एक अहं जिज्ञासा है। शरीर चेतना को प्रभावित करता है, अथवा चेतना शरीर को। संभवतः इसका सटीक समाधान अनेकांत के आलोक में ही मिल सकता है। जैन दार्शनिक मत इस दृष्टि से शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध होता है। चेतन और पुद्गल के संबंधों का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है—

1. अनेकांत दृष्टि के अनुसार चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं, इसलिए उनमें संबंध हो सकता है। 2. इस संसार में जीव का अस्तित्व पुद्गलमुक्त नहीं है। संसारी जीव शुद्ध नहीं, यौगिक है। 3. चेतना और अचेतना को सर्वथा भिन्न तथा संसारी जीव को सर्वथा शुद्ध मानने पर ही संबंध की समस्या जटिल बनती है। 4. भेदविज्ञान की साधना चेतन और अचेतन के सापेक्ष संबंध के आधार पर ही हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका बहुत मूल्य है।

जैन दर्शन में कर्म सिद्धांत का विशद विवेचन हुआ है। शरीर रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक। बंधन से मुक्ति तक गहन चिंतन कर्मशास्त्र का अपना वैशिष्ट्य है। कर्म के स्वरूप, कार्य, बंध-हेतु, कर्म के प्रकार, जीव और कर्म का पौर्वापर्य, कर्म की स्थिति, कर्म का विपाक आदि विषयों पर मौलिक चिंतन की प्रस्तुति जैन दर्शन की देन है। जगत की विचित्रता या विभक्ति भाव का हेतु कर्म ही है।

मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन आनुवंशिकता और परिवेश के आधार पर किया जाता है। आनुवंशिकी के अनुसार व्यक्ति वैसा बनता है, जैसा संस्कार सूत्र और गुणसूत्र अपने साथ लेकर आता है। व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय गुणसूत्र के आधार पर होता है। गुणसूत्र अनेक संस्कार सूत्रों का एक समुच्चय होता है। एक गुणसूत्र में करीब दस हजार संस्कार सूत्र होते हैं। ये सभी संस्कार सूत्र एक संपूर्ण व्यक्तित्व के गुणों के वाहक होते हैं। एक-एक संस्कार सूत्र पर साठ-साठ लाख आदेश लिखे होते हैं।

जीवविज्ञान का नया प्रस्थान : जीन क्लोनिंग

'जीन क्लोनिंग',[12] जो कि पुनःसंबद्ध 'डी.एन.ए.' तकनीक (Recombinant DNA Technology) और अणु (Molecular) 'क्लोनिंग' के रूप में जानी जाती है। 'जीन क्लोनिंग' तब तक संभव नहीं थी, जब तक द्विगुणित 'डी.एन.ए.' अणु को तोड़ने की पद्धति प्राप्त नहीं थी। सन् 1970 तक द्विगुणित 'डी.एन.ए.' को अलग टुकड़ों में विभाजित करने की प्रणाली प्राप्त नहीं थी। 'रेस्ट्रिक्शन एंडोन्यूक्लिअस एंजाइम' की खोज के पश्चात् 'डी.एन.ए.' को विभाजित करना संभव हुआ। सन् 1972 में प्रथम बार 'रेस्ट्रिक्शन एंजाइम' विशेषतया 'डी.एन.ए.' को तोड़ने हेतु काम में लिया गया। उसके अंशों को प्रथम पुनःसंबद्ध अणु के निर्माण हेतु संयोजित किया गया। आज 'रेस्ट्रिक्शन एंडोन्यूक्लिअस' पुनःसंबद्ध 'डी.एन.ए.' तकनीक प्रक्रिया में एक अति-महत्त्वपूर्ण साधन है। 'जीन क्लोनिंग' से एक वांछित मूल 'सेल' (Host cell) की, विशेष 'जीन' की अधिक आवृत्तियां प्राप्त करने का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इस तरीके से 'जीन क्लोनिंग' से 'जीन्स' की वृद्धि हो सकती है।

इस 'जीन क्लोनिंग' प्रक्रिया के तहत भेड़, बिल्ली, गाय आदि का सफल 'क्लोनिंग' हो चुका है। आज मानव 'क्लोनिंग' के लिए वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। मन इच्छित 'जींस' के प्रत्यारोपण से इच्छित मानव को उत्पन्न करने की चाह में नित नए अनुसंधान जारी हैं।

जैन दर्शन की दृष्टि से मात्र 'जींस' का परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं है। व्यक्तित्व निर्माण में दो प्रकार के तत्त्व कार्य

करते हैं—बाह्य और आंतरिक। देश, काल परिस्थिति—ये बाह्य घटक हैं। आनुवंशिकता और कर्म-संस्कार—ये आंतरिक घटक हैं।[13] व्यक्ति का संपूर्ण व्यक्तित्व इन आंतरिक और बाह्य घटकों के आधार पर निर्मित होता है।

जैन दर्शन केवल कर्मवाद को ही स्वीकृत नहीं करता, वह पुरुषार्थवाद को भी स्वीकार करता है। कर्म ही सब-कुछ है, यह धारणा जैन दर्शन की नहीं है। जैन दर्शन काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ—इन पांच समवाय को स्वीकार करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये चारों हमें प्रभावित करते हैं, पर चारों उत्तरदाई नहीं। उत्तरदाई व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है। कर्मवाद के प्रसंग में उद्वर्तन और अपवर्तन पुरुषार्थ को उजागर करते हैं। कर्म को बदला जा सकता है, आगे-पीछे किया जा सकता है। यदि पुरुषार्थ सक्रिय हो तो व्यक्ति चाहे जिस रूप में कर्म को बदल सकता है। संक्रमण का सिद्धांत कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है।

जीवविज्ञान की जो नई धारणाएं और मान्यताएं आ रही हैं, वे इसी संक्रमण सिद्धांत की उपजीवी हैं। 'जीन क्लोनिंग' की दिशा में वैज्ञानिकों के चरण द्रुतगति से आगे बढ़ रहे हैं। संक्रमण का सिद्धांत 'जीन' को बदलने का सिद्धांत है। आधुनिक मनोविज्ञान शरीर संस्थान के आधार पर भी व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है। कर्मशास्त्र की दृष्टि से रंग, रूप, आकृति आदि सभी नामकर्म के उदय से प्राप्त हैं। शरीर रचना को आकृति कहा जाता है। उसके छह प्रकार हैं—समचतुरस्र आदि। अस्थि संरचना को संहनन कहते हैं। इसके भी वज्र-ऋषभ-नाराच आदि छह प्रकार हैं।

कर्म-संस्कारों का संचय जीव स्वयं करता है। उसका वेदन भी उसे करना होता है। जब तक संस्कार पूर्णतया क्षीण नहीं होते, नवीन कर्मों का आगमन होता रहता है।

कर्म और जीव का संबंध कब से

कर्म और जीव का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। व्यष्टि रूप से कर्म सादि-सांत हैं। समष्टि की दृष्टि से अनादि। प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से जीव और कर्म का संबंध है। व्यक्ति रूप से सर्वाधिक स्थिति मोहनीय कर्म की 70 कोड़ा-कोड़ सागर की है। जब तक कर्मबंधन है जन्म-मरण की परंपरा अस्खलित रूप से चली आ रही है। ❖

संदर्भ सूची :

1. जैन सिद्धांत दीपिका 4/1
2. जीव-अजीव, पृ. 45
3. उत्तराध्ययन शा.वृ., पत्र. 72
4. भगवई, पृ. 73
5. पन्नवणा 23/3
6. भगवई 1/141, 8/369
7. पन्नवणा 26/6
8. स्थानांग 4/92-95
9. तत्त्वार्थसूत्र 8/1
10. समवाओ 4/5
11. भगवई 1/132
12. Genetechnology, P. 146, 148
13. कर्मवाद, पृ. 220

❖❖

मानवीय एकता; शांति और सामंजस्य : जैन दृष्टि पृष्ठ 20 का शेष

2. एगे माणुस जाई—गाथा (युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा संकलित, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, 1993, 1/26)
3. उत्तराध्ययन सूत्र (साध्वी चंदनाजी द्वारा अनुवादित, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, 3/1)
4. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ए.एन. उपाध्ये द्वारा संपादित श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगस्त, 1960-478
5. David C.V., The Voice of Humanity.
6. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, पं. सुखलालजी संघवी द्वारा अनुवादित, पी.वी. शोध संस्थान वाराणसी-5, 1/1/1.
7. भगवती सूत्र, 18/10
8. तत्त्वार्थसूत्र, 5/21
9. योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्र, एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, अहमदाबाद 1970, 1333.
10. सन्मतितर्क, सिद्धसेन दिवाकर, पं. सुखलालजी संघवी द्वारा संपादित, जैन श्वेतांबर शिक्षा मंडल, बॉम्बे, 1939, 38
11. वही, 1/28
12. वही, 1/28

❖❖

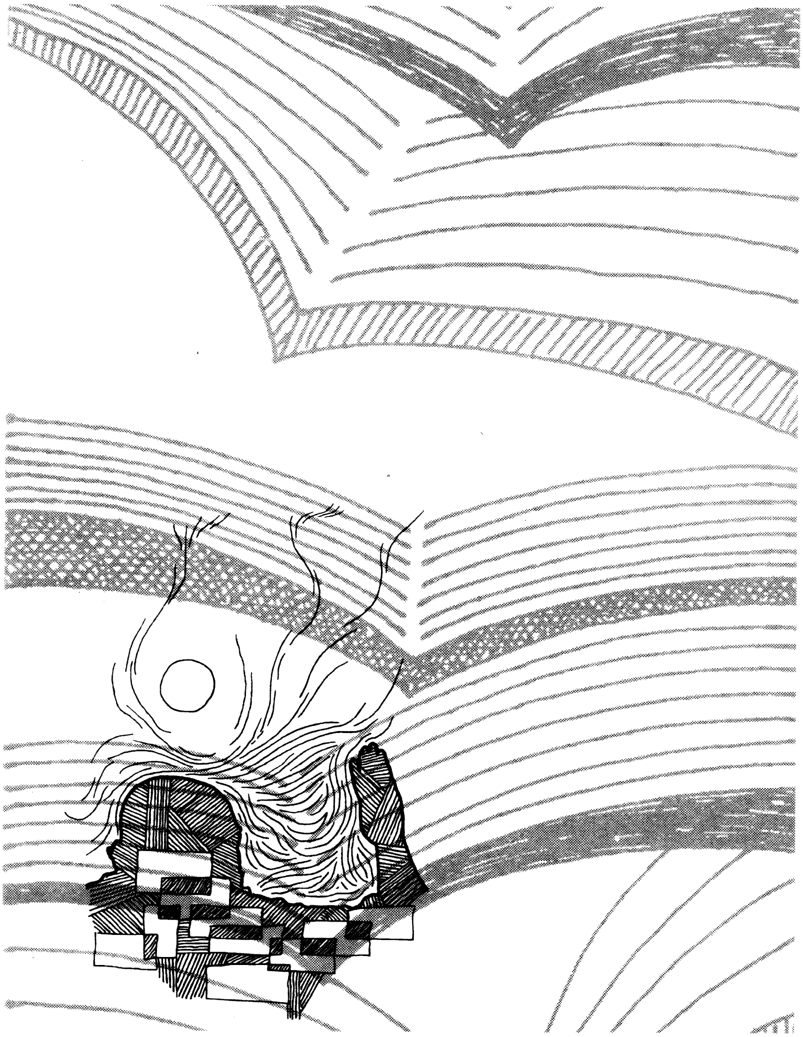

अनुभूति

साधना

अभी मुझे और धीमे
कदम रखना है,
अभी तो
चलने की
आवाज आती है।

—मुनिश्री क्षमासागर

आश्चर्यों के इस युग में कोई यह तो नहीं कहेगा कि अमुक विचार नया है, इसलिए वह निकम्मा है। इसी तरह अमुक कार्य कठिन है, इसलिए वह असंभव है— ऐसा कहना युगधर्म के विपरीत है। जो बातें सपने में भी नहीं सोची जा सकती थीं, वे बातें रोज होती देखी जा रही हैं, असंभव निरंतर संभव होता जा रहा है। हिंसा के क्षेत्र में जो आश्चर्यजनक आविष्कार इन दिनों हो रहे हैं, वे हमें लगातार चकित कर रहे हैं। परंतु, मैं मानता हूं कि इससे कहीं अधिक अकल्पित और असंभव दिखाई देने वाले आविष्कार अहिंसा के क्षेत्र में किए जाएंगे।

अहिंसा का मार्ग

महात्मा गांधी

2 अक्टूबर महात्मा गांधी का जन्मदिन है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस दिन को 'अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस' घोषित किया है। भारत ही नहीं, विश्व-भर में इस निर्णय को प्रसन्नता और गर्व से स्वीकार किया गया है, इसीलिए यह विचारणीय हो जाता है कि गांधी की अहिंसा इस समय किस अवस्था में है—हम इस पर सोचें। विश्वशांति की बात जिस तीव्रता से होती है, उसी गहनता से अहिंसा पर विचार होना जरूरी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे मनीषी-विचारक अहिंसा पर बात करते हुए इसके प्रशिक्षण की बात भी करते हैं। गांधी अहिंसा पर क्या कहते रहे हैं, इस अंक से तीन किस्तों में *जैन भारती* के पाठकों के लिए उनके विचार और इसी अंक में अहिंसा पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की एक खास टिप्पणी —

अहिंसा मनुष्य-जाति के हाथ में बड़ी-से-बड़ी शक्ति है। मनुष्य के बुद्धि-चातुर्य ने संहार और सर्वनाश के जो प्रचंड से प्रचंड अस्त्र-शस्त्र बनाए हैं, उनसे भी अहिंसा अधिक प्रचंड शक्ति है। सर्वनाश और संहार मानव-धर्म नहीं है। मनुष्य आवश्यकता पड़ने पर अपने भाई के हाथों मरने के लिए तैयार रह कर स्वतंत्रता से जीता है, उसे मार कर कभी नहीं। प्रत्येक हत्या अथवा दूसरे को पहुंचाई गई चोट—फिर उसका उद्देश्य कुछ भी रहा हो—मानवता के खिलाफ एक अपराध है।

अहिंसा की पहली शर्त यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सर्वत्र न्याय का व्यवहार हो। शायद मानव-स्वभाव से ऐसे न्याय की आशा रखना बहुत अधिक होगा, लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। मानव-स्वभाव की ऊंचे उठने या नीचे गिरने की क्षमता के बारे में किसी को निश्चित रूप से कुछ नहीं कहना चाहिए।

जैसे हिंसा की तालीम में मारना सीखना जरूरी है, उसी तरह अहिंसा की तालीम में मरना सीखना पड़ता है। हिंसा में भय से मुक्ति नहीं मिलती, किंतु भय से बचने का इलाज ढूंढ़ना पड़ता है। अहिंसा में भय के लिए स्थान ही नहीं है। भयमुक्त होने के लिए अहिंसा के उपासक को उच्च कोटि की त्यागवृत्ति विकसित करनी चाहिए। चाहे जमीन जाए, धन जाए, शरीर भी जाए, लेकिन

इसकी वह परवाह ही न करे। जिसने सब प्रकार के भय को नहीं जीता, वह पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसलिए अहिंसा का पुजारी एक ईश्वर का ही भय रखे; दूसरे सब भयों को जीत ले। ईश्वर की शरण ढूंढ़ने वाले को यह भान होना ही चाहिए कि आत्मा शरीर से भिन्न है; और आत्मा का भान होते हीं क्षणभंगुर शरीर का मोह छूट जाता है। इस तरह अहिंसा की तालीम हिंसा की तालीम से एकदम उलटी होती है। बाहर की चीजों की रक्षा के लिए हिंसा की आवश्यकता पड़ती है; आत्मा की, स्वमान की रक्षा के लिए अहिंसा की आवश्यकता होती है।

जो लोग हमसे प्रेम करते हैं, केवल उन्हीं से यदि हम प्रेम करें—तो वह अहिंसा नहीं है। अहिंसा तभी कही जाएगी जब हम अपने से नफरत करने वालों पर भी अपना प्यार बरसाएं। मैं जानता हूं कि प्रेम के इस महान नियम का अनुसरण करना कितना कठिन है, लेकिन क्या सभी अच्छे और बड़े काम करना कठिन नहीं होते? घृणा करने वाले से प्रेम करना सबसे ज्यादा कठिन है, लेकिन अगर हम करना चाहें, तो ईश्वर की कृपा से यह सबसे कठिन काम भी आसान बन जाते हैं।

मैंने देखा है कि विनाश के बीच भी जीवन कायम रहता है और इसलिए मेरा विश्वास है कि विनाश के नियम से भी कोई बड़ा नियम अवश्य है। केवल उसी नियम के अधीन सुव्यवस्थित समाज की रचना संभव होगी और जीवन जीने योग्य होगा; और अगर वह नियम ही जीवन का सच्चा नियम है, तो हमें दैनिक जीवन में उस पर अमल करना होगा। जहां-कहीं भी विसंवाद पैदा हो, जहां भी आपको किसी विरोधी का सामना करना पड़े, वहां आप उसे प्रेम से जीतिए। मैंने उक्त नियम अपने जीवन में इसी सादे ढंग से

आवश्यकता अहिंसा प्रशिक्षण की

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

महात्मा गांधी का स्वतंत्रता के पुरोधा के रूप में सीमातीत मूल्यांकन हुआ, किंतु स्वतंत्र भारत की स्वतंत्र चेतना और अहिंसात्मक व्यवस्था के निर्माता के रूप में उनका मूल्यांकन नहीं हुआ। इसलिए जनता की दृष्टि में वे पूज्य अधिक हैं, व्यवहार्य कम। भगवान महावीर ने ढाई हजार वर्ष से भी पहले अहिंसा के व्यापक स्वरूप का दर्शन दिया था। उनका भी आज मूल्यांकन नहीं हो रहा है। युग की समस्या के संदर्भ में आवश्यक है—हम भगवान महावीर और महात्मा गांधी के अहिंसा दर्शन और उसके प्रयोगों का गहन अध्ययन करें।

ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने धर्म के दो प्रकार बतलाए—1. मुनि धर्म 2. गृहस्थ धर्म। गृहस्थ धर्म की आचार-संहिता में बारह व्रत हैं। महात्मा गांधी ने ग्यारह व्रतों की व्यवस्था की और भगवान महावीर ने बारह व्रतों की व्यवस्था की। प्रस्तुत प्रसंग में कुछ व्रतों का उल्लेख प्रासंगिक होगा—

1. गलत साधनों से अर्थार्जन मत करो। 2. व्यक्तिगत संग्रह की सीमा करो। 3. इनका फलित है, विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था। 4. व्यक्तिगत उपभोग की सीमा करो।

महावीर की व्रत व्यवस्था के आधार पर व्रती समाज का निर्माण हुआ था। उसमें प्रमुख था—आनंद श्रावक। वह बड़ा व्यवसायी और अपार संपत्ति का स्वामी था, पर वह महात्मा गांधी की तरह सामान्य जीवन जीता था। एक तौलिए से ज्यादा दूसरा तौलिया अपने काम में नहीं लेता था। खाने का संयम, कपड़ों का संयम। जीवन की हर प्रवृत्ति में सादगी का उदाहरण।

अहिंसा का विकास करने के लिए इच्छा संयम, संग्रह संयम और उपभोग संयम करना अनिवार्य है। उसके बिना अहिंसा की बात केवल वाणी का विषय बन जाती है। भगवान महावीर ने अभय, अनाक्रमण और निःशस्त्रीकरण के सिद्धांत की स्थापना ही नहीं, उनकी प्रतिष्ठा भी की।

गांधीजी ने जो नीति अपनाई, वह तीन बातों पर आधारित थी—विकेंद्रित सत्ता, विकेंद्रित अर्थनीति और विकेंद्रित उद्योग। जहां सत्ता, अर्थ और उद्योगों का केंद्रीकरण बढ़ता है, वहां शोषण और अहिंसा को बढ़ावा मिलता है। यदि विकेंद्रित अर्थनीति का सिद्धांत →

कार्यान्वित किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मेरी तमाम मुश्किलें हल हो गई हैं, लेकिन मैंने इतना देखा है कि प्रेम के कानून ने जो काम किया है, वह विनाश के कानून ने कभी नहीं किया।

उदाहरण के लिए—मैं क्रोध नहीं कर सकता, ऐसी बात नहीं है, लेकिन मैं लगभग हर मौके पर अपने भावों को वश में रखने में सफल हो जाता हूं। परिणाम चाहे जो हों, लेकिन मेरे भीतर अहिंसा के कानून का निरंतर और विचारपूर्वक पालन करने के लिए जाग्रत संघर्ष सदा चलता ही रहता है। ऐसा संघर्ष मनुष्य को अधिक बलवान बनाता है। जितना अधिक मैं इस कानून का पालन करता हूं, उतना ही अधिक मैं जीवन में और विश्व की योजना में आनंद अनुभव करता हूं। इससे मुझे ऐसी शांति मिलती है और कुदरत के रहस्यों का ऐसा अर्थ प्राप्त होता है, जिसका वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है।

मैंने देखा है कि व्यक्तियों की तरह राष्ट्रों का निर्माण भी आत्म-बलिदान की पीड़ा सहने से ही होता है, दूसरे किसी मार्ग से नहीं। आनंद दूसरों को दुखी बनाने से नहीं मिलता, बल्कि स्वयं स्वेच्छापूर्वक दुख भोगने से मिलता है।

यदि हम लिखित इतिहास के आदिकाल से लेकर हमारे अपने समय तक के क्रम पर नजर डालें, तो हमें पता चलेगा कि मनुष्य अहिंसा की तरफ लगातार बढ़ता चला जा रहा है। हमारे प्राचीन पूर्वज मानव-भक्षी थे। फिर एक समय ऐसा आया जब लोग मानव-भक्षण से ऊब गए और पशु-पक्षियों के शिकार पर गुजर करने लगे। आगे चलकर मनुष्य को आवारा शिकारी का जीवन व्यतीत करने में भी शर्म आने लगी। इसलिए वह खेती करने लगा और अपने भोजन के लिए मुख्यतः वह धरती-माता पर निर्भर हो गया। इस प्रकार एक खानाबदोश की जिंदगी को छोड़कर उसने सभ्य और

आज देश में लागू होता तो गांव के लोग इतने पिछड़े और गरीब नहीं रहते। एक ओर तीन शब्द हैं—अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा। दूसरी ओर तीन शब्द हैं—विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था, विकेंद्रित सत्ता और विकेंद्रित उद्योग। हम इन दोनों शब्दों की अर्थ मीमांसा करें तो कहा जाएगा—ये दोनों अहिंसा की दिशा में प्रस्थान के पथ हैं। पर, कहना यह चाहिए कि हिंदुस्तान के लोगों ने महात्मा गांधी को समझने का प्रयत्न नहीं किया। इंद्रिय चेतना और भोगवादी संस्कृति में पलने वाला आदमी इस बात को समझने का प्रयत्न करे, यह संभव भी नहीं लगता। यह अनिवार्यता कभी-कभी आती है। जब कभी हिंसा तीव्र हो जाती है, तब व्यक्ति बाध्य होकर कभी-कभी अहिंसा के बारे में सोचता है। सहजतया आदमी इस संदर्भ में सोच ही नहीं पाता।

महात्मा गांधी के आध्यात्मिक विचारों पर गीता का बहुत प्रभाव रहा है, किंतु इससे पूर्व श्रीमद् राजचंद्र के विचारों का निकटतम साहचर्य रहा है। यह अहिंसा के उनके सूक्ष्म निरूपण से स्पष्ट होता है। विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था, विकेंद्रित सत्ता, निःशस्त्रीकरण—इन सिद्धांतों को जैन श्रावक के लिए अल्प परिग्रह, स्वतंत्रता, अनर्थ हिंसा के संदर्भ में देखा जा सकता है। जैन आचार मीमांसा में हिंसा के दो विभाग मिलते हैं—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा। उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने इन दो शब्दों के स्थान पर अनिवार्य हिंसा और वार्य हिंसा का प्रयोग किया है। महात्मा गांधी ने भी अहिंसा की मीमांसा में अनिवार्य हिंसा का प्रयोग कर हिंसा और अहिंसा के बीच बहुत स्पष्ट भेदरेखा खींची है। अनेक विचारक आवश्यक हिंसा को अहिंसा कहकर मौन हो जाते हैं। महात्मा गांधी ने अनिवार्य हिंसा को कभी अहिंसा नहीं माना। इस विषय में उनके कुछ विचार मननीय हैं—

'बंदर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है—उन्हें अगर मारना पड़े तो अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जाएगी।'

एक बार महात्मा गांधी से प्रश्न किया गया—'कोई मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय लोगों के बड़े भाग को कष्ट पहुंचा रहा हो, दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो तो तब उनका नाश करें तो यह अनिवार्य समझकर अहिंसा में कहलाएगी या नहीं?'

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया—'अहिंसा की जो मैंने व्याख्या की है, उसमें ऊपर के तरीके पर मनुष्य वध का समावेश ही नहीं हो सकता। किसान तो अनिवार्य नाश करता है, उसे मैंने कभी

→

स्थिर जीवन अपनाया, गांव और शहर बसाए और एक परिवार के सदस्य से आगे बढ़कर वह समाज और राष्ट्र का सदस्य बन गया। ये सब उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अहिंसा और घटती हुई हिंसा के चिह्न हैं। इससे उलटा होता तो जैसे बहुत-से निचली श्रेणी के प्राणियों की प्रजातियां लुप्त हो गईं हैं, वैसे ही मानव-जाति भी अब तक लुप्त हो गई होती।

पैगंबरों और अवतारों ने भी थोड़ा-बहुत अहिंसा का ही पाठ पढ़ाया है। उनमें से एक ने भी हिंसा की शिक्षा देने का दावा नहीं किया और करते भी कैसे? हिंसा सिखानी नहीं पड़ती। पशु के नाते मनुष्य हिंसक है, और आत्मा के रूप में अहिंसक है। जब मनुष्य को आत्मा का भान हो जाता है, तब वह हिंसक रह ही नहीं सकता। या तो वह अहिंसा की ओर बढ़ता है या अपने विनाश की ओर दौड़ता है। यही कारण है कि पैगंबरों और अवतारों ने सत्य, मेल-जोल, भ्रातृभाव और न्याय आदि के पाठ पढ़ाए हैं। ये सब अहिंसा के गुण हैं।

मेरा यह दावा है कि आज भी, यद्यपि हमारे समाज की रचना का आधार सोच-समझ कर अपनाई गई अहिंसा नहीं है, सारे संसार में आदमी एक-दूसरे की भलमनसाहत पर ही जी रहा है और अपनी संपत्ति को बचाए हुए है। अगर ऐसा न होता तो दुनिया में बहुत ही थोड़े और अतिशय क्रूर आदमी जिंदा रहते, लेकिन सचाई यह नहीं है। परिवारों में लोग परस्पर स्नेह के बंधन से बंधे रहते हैं और परिवारों की तरह ही सभ्य माने जाने वाले समाजों के मानव-समूह—राष्ट्र भी—परस्पर स्नेह के बंधनों से बंधे हुए हैं। भेद इतना ही है कि वे जीवन में अहिंसा के नियम को सर्वोपरि नहीं मानते। इसका मतलब यह हुआ कि अभी उन्होंने अहिंसा की असीम शक्ति की शोध ही नहीं की है। मैं यह कहूंगा कि अब तक सिर्फ अपनी जड़ता के कारण ही हमने यह मान लिया है

अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए, किंतु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।'

महात्मा गांधी अध्यात्म, अहिंसा के क्षेत्र में दुर्लभ व्यक्तित्व हैं। इस भौतिकवादी वातावरण में उनको खोजना सत्य को खोजना है। किंतु, अध्यात्मनिष्ठा से शून्य गांधी के नाम से चल रहे उद्योगों, संस्थानों, प्रतिष्ठानों और रचनात्मक प्रवृत्तियों में उनकी आत्मा को नहीं खोजा जा सकता। इस कटु सत्य को सामने रखकर ही गांधी के बारे में कुछ सोचा जाए—वर्तमान के लिए यह अधिक उपयोगी होगा।

जैनाचार्यों ने हिंसा को तीन कोटियों में विभक्त किया—

1. **आरंभजा हिंसा—आजीविका के लिए खेती आदि में होने वाली हिंसा, व्यावसायिक हिंसा।**
2. **प्रतिरोधजा हिंसा—आक्रांता से अपनी सुरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा।**
3. **संकल्पजा हिंसा—दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए की जाने वाली हिंसा, साम्राज्यवादी और भोगवादी मनोवृत्ति से की जाने वाली हिंसा।**

अहिंसा का विकास क्रमशः होता है। उसकी सीमा-रेखा को समझकर ही हम समाज में अहिंसा की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। सामाजिक जीवन में अहिंसा के विकास के लिए तीसरी कोटि की हिंसा—संकल्पजा हिंसा की वर्जना अनिवार्य है। जिनके पास परिग्रह है, जिन्हें आक्रामक हिंसा से अपने अस्तित्व को खतरा है, उन्हें अहिंसा के प्रयोग का सुझाव देना क्या व्यावहारिक हो सकता है? अहिंसा का प्रयोग वे ही लोग कर सकते हैं, जिनका मनोबल और आत्मबल विकसित होता है, जो मौत के भय तथा अपनी संपत्ति की सुरक्षा की चिंता से मुक्त हो जाते हैं।

संकल्पजा हिंसा ही विश्व-शांति के लिए खतरा है। विश्व संकल्पजा हिंसा से मुक्त हो, अहिंसा का अभियान इस दिशा में होना चाहिए। संकल्पजा हिंसा के अभाव में आक्रमण और प्रत्याक्रमण की हिंसा अपने-आप निःशेष हो जाती है। प्रथम कोटि की हिंसा—आरंभजा हिंसा जीवन यापन के लिए अनिवार्य है, इसलिए उसकी सीमा ही की जा सकती है। उसकी वर्जना संभव नहीं होगी।

हिंसा का जवाब हिंसा से, आतंक का जवाब हिंसा से—इसे तात्कालिक नीति ही कहा जा सकता है। यह समस्या का स्थाई समाधान नहीं है।

→

कि अहिंसा का संपूर्ण पालन अपरिग्रह आदि संयम-सूचक व्रतों को धारण करने वाले कुछ इने-गिने लोग ही कर सकते हैं। यह बात सही है कि अहिंसा की शोध का काम उसके शुद्ध उपासक ही कर सकते हैं और वे ही उसकी अंतर्निहित शक्तियों का समय-समय पर नया-नया प्रयोग बता सकते हैं; फिर भी अगर अहिंसा मनुष्यों पर शासन करने वाला एक सनातन नियम हो, तो वह सबके लिए कल्याणकारी होना चाहिए। जो अनेक असफलताएं हमारे देखने में आती हैं, वे इस नियम की नहीं, बल्कि इसका पालन करने वालों की हैं; क्योंकि उनमें से कइयों को तो यह पता तक नहीं होता कि वे जाने-अनजाने किस नियम के अधीन बरत रहे हैं। जब कोई मां अपने बच्चे के लिए खुद मरने को तैयार हो जाती है, तो वह अनजाने ही इस नियम का पालन करती है। मैं पिछले पचास वर्षों से लोगों को यह समझाता रहा हूं कि वे इस नियम को समझ-बूझकर अपनाएं और असफल होने पर भी इसके पालन में दत्तचित्त बने रहें। पचास वर्ष के इस प्रयोग का परिणाम आश्चर्यजनक हुआ है और अहिंसा में मेरी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। मैं दावे के साथ कहता हूं कि लगातार प्रयत्न करते रहने से एक समय ऐसा आएगा, जब लोग सर्वत्र ईमानदारी से कमाए हुए धन का स्वेच्छा से आदर करेंगे और उसकी रक्षा में सहायक होंगे। इसमें शक नहीं कि यह धन पाप का धन न होगा। और उसमें असमानताओं का वह उद्धत प्रदर्शन भी न होगा, जिसमें आज हम घिरे हुए हैं। अहिंसा के व्रतधारी को अन्याय और अनीति से कमाए जाने वाले धन से आतंकित नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके पास हिंसा का प्रतिकार करने के लिए सत्याग्रह और असहयोग का अहिंसक शस्त्र मौजूद है। जहां-कहीं इस शस्त्र का सचाई के साथ पर्याप्त उपयोग किया गया है, वहां हिंसक शस्त्रों की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई

हमें अहिंसा की दीर्घकालिक नीति पर भी विचार करना चाहिए। वह है—अहिंसा का प्रशिक्षण।

अहिंसा-प्रशिक्षण के द्वारा विद्यार्थी में प्रारंभ से ही अहिंसा के संस्कार का निर्माण किया जाए तो विश्वशांति को सुस्थिर आधार दिया जा सकता है।

सांप्रदायिक कट्टरता, जातीय संघर्ष, सत्ता की लोलुपता, बाजार पर प्रभुत्व और अपराध—ये हिंसा और आतंकवाद के प्रमुख कारण माने जाते हैं। दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पर भी गंभीर चिंतन होना चाहिए। ये हिंसा के बीज नहीं हैं, पुष्प और फल हैं।

क्रोध का आवेश, अहंकार, लोभ, भय, घृणा और काम-वासना—ये हिंसा के बीज हैं। ये देश, काल और व्यक्ति-भेद से सांप्रदायिक कट्टरता, जातीय संघर्ष, सत्ता की लोलुपता, बाजार पर प्रभुत्व और अपराध के रूप में प्रकट होते रहते हैं। हिंसा के इन बीजों को अहिंसा-प्रशिक्षण के द्वारा ही निर्वीर्य किया जा सकता है।

इस शताब्दी में हिंसा के बहुत प्रयोग हुए हैं—अणुशस्त्रों का निर्माण, शस्त्रीकरण का विकास, शस्त्रों का मुक्त बाजार, उग्रवाद अथवा आतंकवाद का प्रशिक्षण, आर्थिक साम्राज्य का विस्तार, असमर्थ जनता का शोषण और उत्पीड़न। अहिंसा का प्रयोग बहुत कम हुआ है। महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग, नेलसन मंडेला आदि कुछ व्यक्तित्व हुए हैं, जिन्होंने अहिंसा की धरती पर खड़े रहकर हिंसा को अहिंसा में बदलने के लिए चरण आगे बढ़ाए हैं।

किंतु, यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि उन्होंने अहिंसात्मक प्रशिक्षण की व्यापक शृंखला तैयार नहीं की। यदि ऐसा होता तो अहिंसा के प्रशिक्षित कार्यकर्ता हिंसा के वातावरण को बदलने में सफल हो जाते। आज भी अवकाश है। अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए प्रशिक्षण की सैद्धांतिक और प्रायोगिक परिकल्पना होनी चाहिए। पारिवारिक जीवन से लेकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त हिंसा को दूर कर समानता, सापेक्षता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की जीवनशैली का विकास किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए आवश्यक है—अणुव्रत, सर्वोदय, राजनीति, समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि क्षेत्रों के धुरीण व्यक्ति गहन चिंतन और मंथन करें और अहिंसक जीवनशैली समाज के सामने प्रस्तुत करें। अहिंसात्मक स्तुति अथवा महिमा-गान समाज-व्यवस्था को बदलने के लिए कारगर नहीं होगा। कारगर होगा प्रशिक्षण का व्यापक कार्यक्रम। क्या हम इस पर गंभीरता से चिंतन कर सकते हैं? ●

है। अहिंसा के संपूर्ण शास्त्र को जनता के सामने रखने का दावा मैंने कभी नहीं किया। उसके लिए ऐसा दावा कभी किया भी नहीं जा सकता। जहां तक मैं जानता हूं, किसी भी भौतिकशास्त्र के लिए—यहां तक कि गणित जैसे निश्चित शास्त्र के लिए भी—इस तरह का दावा नहीं किया जा सकता। मैं तो अहिंसा का केवल एक शोधक ही हूं।

सत्याग्रह का प्रयोग करते हुए अत्यंत प्रारंभिक काल में मैंने देखा कि सत्य का पालन हमारे विरोधी के साथ हिंसक व्यवहार करने की इजाजत नहीं देता। वह विरोधी को धीरज और सहानुभूति के साथ उसकी गलती से दूर हटाने का रास्ता बताता है। क्योंकि एक आदमी को जो सत्य मालूम होता है, वह दूसरे को असत्य मालूम हो सकता है और धीरज का अर्थ है स्वयं कष्ट उठाना। इसलिए सत्याग्रह के सिद्धांत का अर्थ यह हुआ कि सत्य की स्थापना विरोधी को दुख देकर नहीं, अपितु खुद दुख भोग कर की जाए।

आश्चर्यों के इस युग में कोई यह तो नहीं कहेगा कि अमुक विचार नया है, इसलिए वह निकम्मा है। इसी तरह अमुक कार्य कठिन है, इसलिए वह असंभव है—ऐसा कहना युगधर्म के विपरीत है। जो बातें सपने में भी नहीं सोची जा सकती थीं, वे बातें रोज होती देखी जा रही हैं, असंभव निरंतर संभव होता जा रहा है। हिंसा के क्षेत्र में जो आश्चर्यजनक आविष्कार इन दिनों हो रहे हैं, वे हमें लगातार चकित कर रहे हैं। परंतु, मैं मानता हूं कि इससे कहीं अधिक अकल्पित और असंभव दिखाई देने वाले आविष्कार अहिंसा के क्षेत्र में किए जाएंगे।

मनुष्य और उसका काम, दो अलग चीजें हैं। किसी तंत्र के खिलाफ झगड़ा शोभा देता है, लेकिन तंत्र चलाने वाले के खिलाफ झगड़ने का अर्थ है, स्वयं अपने खिलाफ झगड़ना। क्योंकि हम सब एक ही कूंची से बनाए गए हैं, सब एक ही ब्रह्मा की संतान हैं। तंत्र को चलाने वाले में अनंत शक्ति भरी है। उसका अनादर—तिरस्कार—करने में इन शक्तियों का अनादर होता है। इससे तंत्र चलाने वाले को और सारे जगत को नुकसान पहुंचता है।

अहिंसा का सिद्धांत एक सार्वभौम सिद्धांत है और विरोधी वातावरण के कारण उसका उपयोग सीमित नहीं होता। बेशक, उसकी सफलता की कसौटी तभी होती है जब वह विरोध के बावजूद और विरोध के बीच भी अपना काम करे। अगर हमारी अहिंसा अपनी विजय के लिए शासकों की सद्भावना पर निर्भर करे, तब तो वह खोखली और निकम्मी ही मानी जाएगी।

इस शक्ति के सफल उपयोग की एकमात्र शर्त यह है कि हम आत्मा के अस्तित्व को शरीर से अलग मानें और आत्मा की अमरता को स्वीकार करें। इस स्वीकृति को जीती-जागती श्रद्धा का रूप लेना चाहिए, वह केवल बुद्धि से मानी हुई चीज नहीं रहनी चाहिए।

कुछ मित्रों ने मुझसे कहा है कि सत्य और अहिंसा का राजनीति और दुनियावी व्यवहार में कोई स्थान नहीं है। मैं इससे सहमत नहीं हूं। व्यक्तिगत मोक्ष के साधनों के रूप में सत्य और अहिंसा का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं है। प्रतिदिन के जीवन में उन्हें स्थान देने तथा उनका उपयोग करने का प्रयोग मैं सदा से ही करता आया हूं।

जो मनुष्य सक्रिय रूप में अहिंसा का पालन करता है, वह किसी भी जगह होने वाले सामाजिक अन्याय के खिलाफ खड़ा हो सकता है।

सत्याग्रह या आत्मबल को अंग्रेजी में 'पैसिव रेजिस्टेंस' कहा जाता है। जिन लोगों ने अपने अधिकार पाने के लिए खुद दुख सहन किया था, उनके दुख सहने के इस ढंग के लिए यह शब्द बरता गया है। उसका उद्देश्य लड़ाई के बल के उद्देश्य से उलटा है। जब मुझे कोई काम पसंद न आए और वह काम मैं न करूं, तो उसमें मैं सत्याग्रह या आत्मबल का उपयोग करता हूं। मिसाल के तौर पर, मुझ पर लागू होने वाला कोई कानून सरकार ने पास किया, मुझे वह पसंद नहीं है। अब अगर मैं सरकार पर आक्रमण करके यह कानून रद्द करवाता हूं, तो कहा जाएगा कि मैंने शरीर-बल का उपयोग किया। लेकिन, अगर मैं उस कानून को स्वीकार ही न करूं और उस कारण से होने वाली सजा भुगत लूं, तो कहा जाएगा कि मैंने आत्मबल या सत्याग्रह से काम लिया। सत्याग्रह में मैं अपना ही कुछ त्याग करता हूं, अपना ही बलिदान देता हूं।

यह तो सब-कोई कहेंगे कि दूसरे का भोग (बलिदान) लेने से अपना भोग देना ज्यादा अच्छा है। इसके सिवा, सत्याग्रह से लड़ते हुए यदि लड़ाई गलत ठहरी, तो सिर्फ लड़ाई छेड़ने वाला ही दुख भोगता है। यानी अपनी भूल की सजा वह खुद भोगता है। ऐसी कई

घटनाएं जगत में हुई हैं, जिनमें लोग गलती से शामिल हुए थे। कोई भी आदमी बेधड़क यह नहीं कह सकता कि अमुक काम खराब ही है। लेकिन, जिसे वह खराब लगा उसके लिए तो वह खराब है ही। अगर ऐसा ही है तो फिर उसे वह काम नहीं करना चाहिए और उसके लिए दुख भोगना चाहिए। यही सत्याग्रह की कुंजी है।

अहिंसावादी उपयोगितावाद का (अधिकतम लोगों के अधिकतम हित का) समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श को सिद्ध करने के प्रयत्न में मर जाएगा। इस तरह वह इसलिए मरना चाहेगा कि दूसरे जी सकें। आप मर कर दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी करेगा। सबके अधिकतम सुख में अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है और इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी—दोनों अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे; किंतु अंत में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और एक-दूसरे का विरोध भी करना पड़ेगा। तर्कसंगत बना रहने के लिए उपयोगितावादी अपना बलिदान कभी नहीं कर सकता। लेकिन, अहिंसावादी अपना बलिदान देने को भी हमेशा तैयार रहेगा।

बेशक, आप ऐसा कह सकते हैं कि अहिंसक विद्रोह कभी हो ही नहीं सकता और इतिहास में ऐसा विद्रोह होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। खैर, ऐसा उदाहरण दुनिया के सामने रखने की अभिलाषा मैं रखता हूं और यह सपना देखा करता हूं कि मेरा देश अहिंसा के द्वारा अपनी आजादी हासिल करेगा। और, मैं दुनिया के सामने बार-बार यह दोहराना चाहूंगा कि अहिंसा की कीमत पर मैं अपने देश की आजादी नहीं खरीदूंगा। अहिंसा के साथ मेरा ऐसा अटूट संबंध बंध गया है कि अहिंसा का मार्ग छोड़ने के बजाय मैं आत्महत्या कर लेना ज्यादा पसंद करूंगा। यहां मैंने सत्य का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि एकमात्र अहिंसा के द्वारा ही सत्य प्रकट किया जा सकता है।

पिछले तीस बरसों का, जिनमें से पहले आठ बरस दक्षिण अफ्रीका में बीते थे, अनुभव मुझे इस महान आशा से भर देता है कि अहिंसा को अपनाने से ही हिंदुस्तान का और सारे जगत का भविष्य उज्ज्वल होगा। मानव-जाति के दलित और पीड़ित वर्गों के साथ होने वाले राजनीतिक तथा आर्थिक अन्यायों का सामना करने के लिए अहिंसा का मार्ग सबसे निर्दोष और फिर भी सबसे परिणामकारी मार्ग है। मैंने बचपन से ही यह जाना है कि अहिंसा ऐसा गुण नहीं है, जिसका किसी एकांत स्थान में कोई अकेला आदमी अपनी शांति और मोक्ष के लिए पालन करे; वह तो सारे समाज के लिए सदाचार का नियम है। अगर समाज मानव-प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए जीना चाहता है और शांति की स्थापना की दिशा में—जिसके लिए वह युगों से तरसता रहा है—आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे अहिंसा के नियम का पालन करना ही चाहिए।

1906 के साल तक मैंने केवल बुद्धि को अपील करने का मार्ग ही ग्रहण किया था, उसी पर सारा आधार रखा था। मैं जीतोड़ परिश्रम करने वाला सुधारक था। मैं अरजियों के मसविदे अच्छे तैयार करता था, क्योंकि हकीकतों की मुझे गहरी पकड़ थी; और यह पकड़ सत्य के मेरे सूक्ष्म पालन का आवश्यक परिणाम थी। लेकिन, मैंने अनुभव से पाया कि दक्षिण अफ्रीका में जब नाजुक मौका आया तब बुद्धि लोगों पर असर डालने में असफल रही। मेरे देश-बंधु उत्तेजित हो गए थे; एक छोटा-सा कीड़ा भी उत्तेजित हो सकता है और कभी-कभी हो जाता है—और विरोधियों से बदला लेने की बात भी चलने लगी थी। उस समय मुझे नीचे के दो विकल्पों में से एक का चुनाव करना पड़ा था : या तो मैं हिंसा के साथ गठबंधन कर लूं, या संकट का सामना करने तथा कौम के लोगों में फैलने वाली सड़ांध को रोकने का कोई दूसरा उपाय खोज निकालूं। तब मेरे मन में यह विचार आया कि हमें अपमान करने वाले कानून को मानने से इनकार कर देना चाहिए। इसके फलस्वरूप सरकार चाहे तो हमें जेल में बंद कर दे। इस प्रकार युद्ध का स्थान लेने वाली नैतिक शक्ति का जन्म हुआ। उस समय मैं ब्रिटिश साम्राज्य का वफादार नागरिक था, क्योंकि मैं भीतर ही भीतर यह मानता था कि ब्रिटिश साम्राज्य की प्रवृत्तियां कुल मिला कर भारत के लिए और सारी मानव-जाति के लिए अच्छी हैं। विश्वयुद्ध के शुरू होते ही इंग्लैंड पहुंच कर मैं उसमें कूद पड़ा और बाद में पसलियों के दर्द के कारण मुझे मजबूर होकर भारत लौटना पड़ा। तब प्राणों को खतरे में डालकर और अपने कुछ मित्रों को आघात पहुंचा कर भी मैंने फौज में सैनिकों की भरती का आंदोलन चलाया। मेरा यह भ्रम 1919 में मिटा, जब काला रौलट कानून (भारतीयों को कुछ मूलभूत नागरिक स्वतंत्रताओं से वंचित करने वाला कानून।) पास हुआ और

शासकों के साबित हो चुके अन्यायों और अत्याचारों को मिटाने की दिशा में प्राथमिक कदम उठाने से भी सरकार ने इनकार कर दिया। और इस तरह 1920 में मैं विद्रोही बन गया। तब से मेरी यह मान्यता दिनोदिन बढ़ती रही है कि प्रजा के लिए बुनियादी महत्त्व रखने वाली चीजें केवल बुद्धि से प्राप्त नहीं की जातीं, लेकिन उन्हें प्रजा के कष्ट-सहन द्वारा खरीदना पड़ता है। कष्ट-सहन मानव-प्राणियों का कानून है; युद्ध जंगल का कानून है। लेकिन, कष्ट-सहन जंगल के कानून की अपेक्षा विरोधी का हृदय-परिवर्तन करने की तथा उसके अन्यथा बंद रहने वाले कानों को बुद्धि की आवाज सुनने के लिए खोलने की अनंतगुनी अधिक शक्ति रखता है। मैंने अन्याय को दूर कराने के लिए जितनी अरजियां लिखी हैं या परित्यक्त उद्देश्यों का जितना समर्थन किया है, उतना शायद दूसरे किसी ने नहीं किया होगा; और अनुभव के आधार पर मैं इस बुनियादी नतीजे पर आया हूं कि अगर हम सचमुच कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कराना चाहते हों, तो हमें केवल बुद्धि को ही संतुष्ट नहीं करना चाहिए, बल्कि सामने वाले के हृदय को भी हिलाना चाहिए। बुद्धि की अपील केवल उसके मस्तिष्क को ही स्पर्श करती है, लेकिन उसके हृदय में पैठने का काम तो कष्ट-सहन से ही संभव होता है। कष्ट-सहन मानव के भीतर की सद्भावना और सहानुभूति को जगा देता है। कष्ट-सहन ही मानव-जाति का सच्चा लक्षण है, तलवार या पशुबल नहीं।

अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका सब कोई—बच्चे, नौजवान, स्त्री, पुरुष या बुजुर्ग—समान रूप से उपयोग कर सकते हैं। शर्त इतनी ही है कि प्रेमरूप भगवान में उनकी जीती-जागती श्रद्धा हो और इसलिए सारे मानवों पर एक-सा प्रेम हो। जब अहिंसा को जीवन के कानून के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तब उसका उपयोग अलग-अलग कार्यों में ही नहीं होना चाहिए, बल्कि वह संपूर्ण जीवन में व्याप्त हो जानी चाहिए।

अगर हमें अहिंसक बनना हो तो इस धरती पर हमें ऐसी किसी चीज की इच्छा नहीं करनी चाहिए, जिसे नीचे से नीचे या छोटे से छोटे मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते। ❖

क्रमशः शेष अगले अंक में

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

भावक्रिया व्यक्ति की शक्तियों के बिखराव को रोकती है। शक्ति-क्षय को बचाती है। समग्र ऊर्जा का उचित-उपयुक्त उपयोग करती है। व्यक्ति को अंतर्द्वंद्वों से मुक्त बनाती है। बाह्य संक्रमणों से बचाकर एकाग्रता, विशुद्धता एवं निर्मलता को बढ़ाती है और क्रिया को समग्रता से, सर्वांगीणता से संपादित करती है। जो व्यक्ति के आह्लाद का हेतु बनती है एवं आत्म-समाधि को बढ़ाती है।

भावक्रिया—सफलता-सिद्धि का सूत्र

मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

स्वस्थ, शांत, सक्षम, समृद्ध, प्रसन्न और सुखी जीवन जीने की स्वायत्त कला है—प्रेक्षाध्यान। यह आत्म-समाधि और आध्यात्मिक अंतःशक्तियों के जागरण की सबल साधना है। शारीरिक आरोग्य, मानसिक शांति और विधायक भावों के विकास के लिए प्रेक्षाध्यान उर्वर भूमि प्रदान करता है।

प्रेक्षाध्यान स्वभाव-परिवर्तन, आंतरिक जागरूकता और आत्म-नियंत्रण का सबल सूत्र है। यह शारीरिक और मानसिक तनावों तथा बुरी आदतों से मुक्ति दिलाता है। प्रेक्षाध्यान की साधना से मानसिक एकाग्रता, निश्चलता और प्रबल सहिष्णुता की प्राप्ति होती है। निरंतर सकारात्मक सोच बनी रहती है। प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से आग्रह, आवेश, द्वेष, वैमनस्य, घृणा, निराशा और हीनता के नकारात्मक भावों से पिंड छूट जाता है। फलस्वरूप समग्र-सक्षम व्यक्तित्व का विकास होता है जो समाज, देश और विश्व के लिए वरदान साबित हो सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-दर्शन व आत्म-मुक्ति के लिए यह शीर्ष स्थानीय सर्वोत्तम प्रक्रिया है। प्रेक्षाध्यान उच्च कोटि की साधना है। मूर्च्छा के सुदृढ़ दुर्ग इससे छिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर यह प्रक्रिया थोड़ी क्लिष्ट और सघन संकल्प की अपेक्षा रखती है। निरंतर अभ्यास से इसकी सिद्धि हो जाती है, पर निर्विघ्न व समीचीन साधना के लिए प्रशस्त भूमिका बहुत अपेक्षित है। उर्वर भूमि के बिना ध्यान रूप शस्य की निष्पत्ति नहीं हो पाती। अतः ध्यान-सिद्धि के हेतु उपयुक्त भूमि के निर्माण के लिए उपसंपदा की संयोजना की गई है।

उपसंपदा का मतलब है—ध्यान-संपदा को उपलब्ध करने के लिए समुचित, अनुकूल एवं सहायक परिवेश का निर्माण करना। भावों का अंतर्मुखी रुझान, अंतःस्रावी ग्रंथियों के संतुलित स्राव और शारीरिक स्वस्थता से ही स्थिरता का वलय बनता है; तभी निर्बाध, निर्विकल्प ध्यान संपन्न हो सकता है। तब किसी प्रकार के तनाव, उलझाव या खिंचाव जैसी बाधाएं नहीं आएंगी और न कोई संवेदन, अवरोध, व्यवधान का पत्थर खड़ा हो सकेगा।

इसके लिए जरूरी है कि मानसिक गठबंधन व संतुलित तथा शारीरिक सामर्थ्य सुदृढ़ रूप से प्रशस्त हो कि तन्मयता के साथ यथेष्ट ध्यान संपन्न हो सके।

उपसंपदा के चार संकल्प और पांच साधना-सूत्र हैं। इन सबकी समन्वित साधना से ध्यान के लिए बहुत सुरक्षित और प्रशस्त प्रकोष्ठक बन सकता है और ध्यान-सिंधु में उतरने के लिए सुगम व सौम्य घाट का निर्माण हो

जाता है। फिर साधक दीर्घ समय तक ध्यान की दशा में तन्मय-तल्लीन रह सकता है।

उपसंपदा के चार संकल्प

ध्यान-साधक ध्यान-साधना में उपस्थित-अवस्थित होने से पूर्व अपने अंतःपरिवेश को, अपनी अध्यात्म ऊर्जा को सर्वथा साधना के योग्य, अनुकूल व परिपोषक बना लेता है। उपसंपदा के चारों संकल्प उसे आंतरिक दृढ़ता, सघनता और जागरूकता से संपन्न व परिपूर्ण बना देते हैं। अंतरात्मा में एकाग्रता और तन्मयता की निर्द्वंद्व व निर्विकार पृष्ठभूमि बन जाती है।

साधक सुखासन, पद्मासन या अन्य किसी ध्यानासन में बैठकर सर्वप्रथम शरीर को तनावमुक्त करे। अपनी गर्दन व मेरुदंड को सीधा रखे, बद्धांजलि होकर उपसंपदा के संकल्प-सूत्रों का उच्चारण करे—

1. **अब्भुट्ठिओमि आराहणाए** : मैं प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए उपस्थित हुआ हूं।
2. **मग्गं उवसंपज्जामि** : मैं अध्यात्म साधना मार्ग स्वीकार करता हूं।
3. **सम्मत्तं उवसंपज्जामि** : मैं अंतर्दर्शन की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।
4. **संजमं उवसंपज्जामि** : मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।

इन संकल्पों के साथ ही साधक के चारों ओर एक भावनात्मक कवच का निर्माण हो जाता है। कोई भी बाह्य संक्रमण उसमें प्रविष्ट नहीं हो पाता। साधक का चित्त तरंगातीत गहराई में उतर जाता है। वह एकदम उपशांत-प्रशांत बन जाता है। साधक को अंतरंग आनंदानुभूति होने लगती है। वह आत्मा के अत्यंत श्लाघ्य स्वरूप का दर्शन करता है। जैसा कि समाधि-शतक में पूज्यपाद यशोविजयजी ने निरूपित किया है—

रागद्वेषादि कल्लोलै रलोलं यन्मनो जलम्
सपश्यत्यात्मन स्तत्त्वं तत्तत्वं नेतरोजनः

राग, द्वेष, संक्लेश आदि की लहरों से जिसका मानस मुक्त है—सघन निश्चल है, वह आत्मा का जैसा विलक्षण दिव्य स्वरूप देखता है, वैसा दूसरे साधारणजन नहीं देख सकते हैं। उपसंपदा के पांच साधना सूत्र हैं— 1. भावक्रिया, 2. प्रतिक्रिया विरति—प्रतिक्रिया मुक्ति, 3. मैत्री भाव, 4. मिताहार; आहार विवेक, 5. मौन; मितभाषण—भाषा विवेक।

ध्यान-साधक को अपनी सतत जागरूकता और विशिष्ट प्रकृष्ट ध्यान-पात्रता के लिए इन पांचों साधना-सूत्रों की तल-स्पर्शी साधना करना जरूरी है। इन पांचों चर्याओं को आत्मसात कर लेना अपेक्षित है। जीवन-व्यवहार में इन्हें नैसर्गिक चर्या बनाकर इन पांचों में पारंगत हुआ साधक ध्यान का वरेण्य स्थिरयोगी, अविकारी अधिकारी बन जाता है।

भावक्रिया

उपसंपदा का प्रथम साधना-सूत्र है—भावक्रिया। व्यक्ति जो भी क्रिया करता है, उसमें भावों की प्रधानता रहती है। भाव जितने सघन अनुस्यूत होते हैं, क्रिया उतनी ही विशिष्ट व जीवंत बन जाती है। भावशून्य क्रिया द्रव्य क्रिया रह जाती है। क्रिया करते समय मन का उसमें पूर्ण योगदान अपेक्षित रहना चाहिए। शरीर कोई क्रिया कर रहा है और मन कहीं अन्यत्र उलझा हुआ है, या उचटा हुआ है, तो वह क्रिया प्राणवान नहीं हो पाती, निर्जीव-निर्वीर्य रह जाती है। जिस उद्देश्य से वह की गई, उसकी सिद्धि-संपूर्ति नहीं हो पाती। भगवान महावीर ने भावक्रिया का स्वरूप निर्धारण करते हुए सटीक अभिव्यक्ति दी है—

इंदियत्थे विवज्जिता सज्झायं चेव पंचहा
तम्मुत्री तत्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रिए
कोहे माणेच मायाए लोभेय उवउत्तया
हासे भये मोहरिए विगहासु तहेव च

इंद्रिय विषयों और पांच प्रकार के स्वाध्यायों का वर्जन कर तन्मय-तन्मूर्ति बनकर पूर्ण उपयोग से वर्तमान क्रिया करनी चाहिए। साथ ही क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथाओं से मुक्त रहकर क्रियमाण क्रिया की जानी चाहिए। केवल प्रस्तुत क्रिया का ही भाव रहे, तब वह क्रिया भावक्रिया बन जाती है। शरीर और मन तब एक ही दिशा में सक्रिय होते हैं। उभय एक ही अंकुर को सींचते हैं। एक ही ज्योति को जलाने में आहुति देते हैं। तब भावक्रिया निष्पन्न होती है। भावक्रिया के लिए जैनागम में ठोस निर्वचन है। **तन्मणे तलेस्से**—जो क्रिया करते हो वैसा ही मन बना लो, वैसी ही लेश्या बना लो। भावक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अध्यात्म-साधना में द्रव्यक्रिया—मानसिक तन्मयता बिना की क्रिया—बिल्कुल भी मान्य नहीं है। राजस्थानी में कहा है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख मांहि।
मनुवा तो चिहुं दिशि फिरै, यह तो सुमिरण नांहि।।

सम्यक् प्रवृत्त साधक गमन, भोजन, भाषण, स्वाध्याय और निद्रा—जिस प्रवृत्ति में अपनी ऊर्जा का तदात्मक भाव से निक्षेपण-प्रक्षेपण करता है, उसमें तल्लीन होता है—वह योग क्रिया बन जाती है। वह जीवन-शुद्धि का व समृद्धि का सबल आधार बन जाती है।

वर्तमान में भावक्रिया कम और द्रव्यक्रियाओं का दौर अधिक चल रहा है। गृहांगण, अध्ययन कक्ष, कार्यालय और यात्रा—सर्वत्र द्रव्यक्रियाएं ही अठखेलियां कर रही हैं। यही कारण है कि प्रवृत्तियों के वांछित फल नहीं मिल रहे हैं। द्रव्यक्रिया होने से आधा-अधूरा ही परिणाम सामने आता है। व्यक्ति भोजन करने बैठता है। सामने 'टी.वी.' खोल देता है। हाथ और मुंह भोजन क्रिया में प्रयुक्त हैं। दांत चबा रहे हैं, पर दिमाग और दिल 'टी.वी.' के दृश्यों में मशगूल हैं। आंखों ने वहीं पर टकटकी लगा रखी है। भाव वहीं खोए हुए हैं। ऐसी स्थिति में दोनों ही क्रियाएं सम्यक् संपादित नहीं हो पातीं। मूल क्रिया का परिणाम ही विसर्जित हो जाता है।

विद्यार्थी पुस्तकों का ढेर लेकर अध्ययन के लिए बैठा है, पर पास में 'टी.वी.' पर कोई फिल्म आ रही है। प्यार के या तकरार के संवाद बोले जा रहे हैं। विद्यार्थी का मन उनसे आक्रांत हो गया, उसी उधेड़बुन में लग गया। उड़ते मन से पुस्तक खोलता है, दृष्टि पन्नों पर गड़ाता है, किंतु चिंतन में 'पिक्चर' के 'रोल' आ घुसते हैं। मन एकाग्र नहीं हो पाता है। शरीर और मन के अलग-अलग व्यवहार चल रहे हैं। एक ही क्रिया के साथ अनेक क्रियाओं का संक्रमण होना द्रव्यक्रिया है। द्रव्यक्रिया मन और कर्म की विसंगति है। वह निष्फल होती है। उससे इष्ट फलित नहीं हो पाता।

मित्रों की या परिचितों की साइकिलों पर तेज रफ्तार से यात्रा चल रही है। साथ ही पूर्ण ठहाकेदार बातचीत भी चालू है। ऐसी द्वैतात्मक क्रिया दुर्घटना को सीधा ही निमंत्रण है।

भावक्रिया में जिस मानस-स्थिरता की संलग्नता और सजगता की अपेक्षा होती है, उस उपादान का आज प्रायः अभाव ही दृष्टिगत हो रहा है। साथ ही निमित्त कारणों का उग्र हस्तक्षेप भी है। क्रिया के प्रति मन और शरीर का एकात्मक न होना द्रव्यक्रिया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का उद्बोधन है—'क्रिया से जो फल मिलना चाहिए, द्रव्यक्रिया से वह नहीं मिलता। सफलता और सिद्धि का सूत्र है—भावक्रिया। हम भावना और संकल्प के साथ प्रयोग करें। सफलता और सिद्धि का साक्षात्कार होगा।

भूत, भविष्य से उन्मुक्त रहकर वर्तमान क्रिया के साथ पूर्णरूपेण सामंजस-समरस होना भावक्रिया है। साध्य और साधन में समस्वरता स्थापित कर वर्तमान क्रिया के प्रति सर्वात्मना समर्पित होना भावक्रिया है। भावक्रिया के लिए चेतना की समग्र धारा को उसमें प्रवाहित करना अनिवार्य है। मानसिक अध्यवसाय, विचार, इंद्रिय और भावना—ये सब एक दिशा में गतिशील हो जाएं, पूरी एकाग्रता बन जाए—तब भावक्रिया निष्पन्न होती है।

भावक्रिया के लाभ

भावक्रिया व्यक्ति की शक्तियों के बिखराव को रोकती है। शक्ति-क्षय को बचाती है। समग्र ऊर्जा का उचित-उपयुक्त उपयोग करती है। व्यक्ति को अंतर्द्वंद्वों से मुक्त बनाती है। बाह्य संक्रमणों से बचाकर एकाग्रता, विशुद्धता एवं निर्मलता को बढ़ाती है और क्रिया को समग्रता से, सर्वांगीणता से संपादित करती है। जो व्यक्ति के आह्लाद का हेतु बनती है एवं आत्म-समाधि को बढ़ाती है।

भावक्रिया के तीन बिंदु

भावक्रिया के तीन बिंदु हैं। तीनों की पूर्णांक साधना ही भावक्रिया की पूर्णता है, यथार्थता है। भावक्रिया का प्रथम बिंदु है—वर्तमान में जीना। यह बहुत यथार्थ साधना है। अतीत, वर्तमान और भविष्य—तीन काल हैं। हमारा अधिकार सिर्फ वर्तमान पर है। पाश्चात्य विचारक बुकर टी. वाशिंगटन का मर्मस्पर्शी कथन है कि 'टुडे इज द लास्ट डे ऑफ द लाइफ'—अर्थात् 'आज का दिन ही जीवन का अंतिम दिन है'—कल पर निर्भर न रहें। परंतु आज मनुष्य प्रतिदिन के कार्य कल पर ही छोड़ता रहता है। वस्तुतः हमारे लिए विद्यमान क्षण ही सत्य है। अतीत गुजर चुका है, भविष्य अभी आया नहीं। उसका कोई भरोसा नहीं। केवल वर्तमान ही हमारे हाथ में है। वर्तमान में जीना ही वास्तविक है।

कहा है—

अतीतं नानुसन्धियात्, भविष्यं नैव चिन्तयेत्,
वर्तमानेषु कार्येषु, वर्तयन्ति विचक्षणाः

—अतीत को जोड़ने का प्रयास मत करो और न भविष्य की चिंताओं में डूबो। समझदार व्यक्ति केवल वर्तमान कार्य में संलग्न रहते हैं। वर्तमान को साधकर वे शुभ भविष्य का निर्माण कर लेते हैं। वर्तमान में बीजवपन कर भविष्य में लहलहाती हरी-भरी खेती के अधिकारी हो जाते हैं। वर्तमान में चूकने वाला सर्वत्र चूक जाता है।

मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है कि वह अतीतकाल की मधुर-कटु स्मृतियों में खोया रहता है। खुश-प्रसन्न, खिन्न-विषण्ण बना रहता है। भविष्यकाल की रंगीन-मनोहारी कल्पनाओं में उड़ानें भरता रहता है। सुनहले संसार का सृजन करता रहता है। अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं रख पाता, उन्हें संयत नहीं बना पाता। अनुस्रोत में बहता रहता है। जीवन जीने के लिए उससे मुक्त होना जरूरी है। स्मृतियों और कल्पनाओं के जाल से मुक्त होकर ही यथार्थ जीवन जीया जा सकता है। अन्यथा तो मूर्च्छा का जीवन चलता है। वर्तमान में जीना स्वस्थ चेतना का जीवन है। जाग्रत चैतन्य का उत्क्रमण है। वर्तमान में जीना ही जीवन की सच्ची कला है।

वर्तमान में जीने वाला विभिन्न संकल्पों-विकल्पों के द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। निर्भार बन जाता है। भविष्य की चिंताएं छूट जाती हैं। अतीत की स्मृतियों से भी तनावग्रस्त नहीं होता। राग-द्वेष से उपरत होने से वीतरागता की दिशा में बढ़ता चला जाता है।

भावक्रिया का दूसरा बिंदु है—जानते हुए करना। जानते हुए करना व्यक्तित्व-रूपांतरण की ठोस साधना है। यह ऊर्ध्वारोहण की अचूक प्रक्रिया है। दुश्चिंतन, दुर्भाव और दुष्कर्म से मुक्त होने का प्राणवान प्रयोग है। स्वस्थ अंतःकरण से जानते हुए कोई भी कुत्सित कर्म नहीं किया जा सकता। बुरे कार्य के लिए उद्यत होते ही जाग्रत चेतना चपत लगा देती है। कहती है—संभलो, यह बुरा काम, यह अधम प्रवृत्ति तुम्हारा कार्य है? कैसे मूर्च्छित-विक्षिप्त-विवेकहीन हो रहे! इस प्रवृत्ति का परिणाम कष्टदायक है। अशुभ-अप्रशस्त है। यह ज्ञात होने पर ऐसी प्रवृत्ति किसी से नहीं हो सकती। आयारों में इसका स्पष्ट उल्लेख है— **आयंकदंसीण करेइ पावं**—प्रवृत्ति में छिपे आतंक को, खतरे को देखने वाला पापकर्म, जघन्य कार्य नहीं कर सकता है। आग में या सर्प के मुंह में कोई अज्ञ— विवेकशून्य ही हाथ डालता है। विज्ञ—विवेक-वरिष्ठ कभी नहीं डालता। सोच-समझ कर कदम उठाना दुष्प्रवृत्तियों का मुक्तिमंत्र और सत्-प्रवृत्तियों का प्रेरणा-सूत्र है। गहराई में जाकर यह योग से अयोग का सत्पथ बन जाता है। गड्ढे में कोई अंधा ही गिरता है। चक्षुष्मान तो हर हालत में बचाव कर लेता है। जानते हुए करना व्यक्ति को सत्पुरुष, साधक और परमहितैषी आध्यात्मिक बना देता है।

भावक्रिया का तीसरा बिंदु है—सतत अप्रमत्त रहना। प्रमाद के घेरे से सर्वथा मुक्त रहना। प्रमाद अत्यंत अनिष्टकारी और कष्टदायक है। साधना की विकट बाधा है। यह विवेक के दीपक को बुझाकर समस्त बुराइयों के द्वार खोल देता है। व्यक्ति को विपत्तियों के गहरे गड्ढे में ढकेल देता है। सब दुख, व्यथा, अहित और स्खलनाएं प्रमाद से होती हैं। एक संस्कृत पद्य में स्पष्ट चित्रण है—

गच्छतः स्खलनाक्वापि भवत्येव प्रमादतः

क्रियाशील के प्रमाद के कारण स्खलनाएं एवं त्रुटियां होती हैं। भवभ्रमण का हेतु भी प्रमाद ही है। उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन का निरूपण है—

एवं भवसंसारे संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं
जीवोपमाय बहुलो समयं गौयम मा पमायए

—प्रमाद-बहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा जन्म-मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए हे गौतम! क्षणभर भी प्रमाद मत कर।

प्रमाद सब दुष्कर्मों की, दुविधाओं और व्यग्रताओं की खान है। अतः इसके चंगुल से मुक्त होना जरूरी है। उपसंपदा के तीसरे बिंदु में इससे मुक्ति का आह्वान है। आह्वान नहीं, कड़ी चेतावनी है।

संस्कृत ग्रंथ की उत्प्रेरणा है—**सत्यान्न प्रमदितव्यम्**—सत्य की साधना में कभी प्रमाद मत करो, **धर्मान्न प्रमदितव्यम्**—धर्माचरण में कभी प्रमाद मत करो, **कुशलान्न प्रमदितव्यम्**—कुशल व्यवहार में प्रमाद मत करो। प्रमाद का अर्थ है—चेतना की मूर्च्छित अवस्था, उन्माद, मूढ़ता, चैतन्य की विकृति और मन की निर्बलता। भगवान बुद्ध के अभिमत में प्रमाद का अर्थ है—आत्म-

शेष पृष्ठ 49 पर

ठीक है, लेकिन क्यों नहीं? हर चीज की सीमा होती है। अब वे उन्हें दिखा देंगे। बहुत दिन तो उन्होंने चिरौरी कर ली। लेकिन, क्या किसी ने उनकी सुनी? नहीं, किसी ने भी नहीं। न ही इंजीनियर ने और न ही प्रबंधक ने, और निदेशक से तो उन्हें मिलने ही नहीं दिया गया। वह तो इतना बड़ा अफसर था—उन्हें अपने पास कैसे आने देता! नंगी तलवार लिए दो सिपाही फाटक पर खड़े थे। उन्होंने उन्हें रोक लिया था। ठीक पुराने जमाने की तरह, जब काउंट और नवाबों का सख्त शासन हुआ करता था।

प्रतिनिधि मंडल

जौल्तान शिवन्याइ

यह बड़ी विचित्र यात्रा थी, बहुत ही विचित्र। सात खदान मजदूरों ने सेलमेक में कभी इतनी बढ़िया यात्रा नहीं की थी। नहीं, कभी नहीं! पूरे सात खदान नगरों के हजारों मजदूरों में से किसी एक ने भी नहीं। नहीं पहले भी नहीं, अब तक भी नहीं—केवल इन सातों के अलावा।

'तुम कहां जा रहे हो?' लोगों ने पूछा। 'हम राजा से मिलने जा रहे हैं। महाराजाधिराज से!'

'किसलिए?'

'हम शिकायत करने जा रहे हैं। हम अब और सहन नहीं कर सकते। सुबह से शाम तक जमीन के नीचे काम करते रहना और तिस पर भी हमें सूखी रोटी तक नसीब नहीं। वह हमारी बात मानेंगे। वे प्रजा-पालक हैं।'

'अच्छा, अच्छा! दोस्तो, खुदा तुम्हारी मदद करे।'

और वे चले गए। लेकिन, बस चले ही नहीं गए, पूरी सज-धज के साथ गए। उनके सामने चला पीतल के बाजे उठाए बैंड बजाने वालों का दल। उनके पीछे चला झंडा लिए एक आदमी! उसके पीछे सात खदान मजदूर। उनकी मखमली टोपियों पर सुंदर पंख लगे थे। उन्होंने खदान मजदूरों वाली काली कमीज पहनी हुई थी—बांहों पर सिल्क के फुंदनों वाली। उन्होंने पीले रंग के बकसुए (बकल) वाले बेल्ट बांध रखे थे। इस तरह सज-धजकर वे बैंड के पीछे चले। एक ही लाइन में सातों और उनके पीछे थी भीड़....आदमी, औरत, बच्चे और बूढ़े।

नाइट-कैप पहने शहर के लोगों ने उत्सुकता से खिड़कियों से झांककर देखा। 'देखो तो इन दंगाइयों को', वे फुसफुसाए, 'इन्होंने राजा के पास जाने की हिम्मत कर ली।'

ठीक है, लेकिन क्यों नहीं? हर चीज की सीमा होती है। अब वे उन्हें दिखा देंगे। बहुत दिन तो उन्होंने चिरौरी कर ली। लेकिन, क्या किसी ने उनकी सुनी? नहीं, किसी ने भी नहीं। न ही इंजीनियर ने और न ही प्रबंधक ने, और निदेशक से तो उन्हें मिलने ही नहीं दिया गया। वह तो इतना बड़ा अफसर था—उन्हें अपने पास कैसे आने देता! नंगी तलवार लिए दो सिपाही फाटक पर खड़े थे। उन्होंने उन्हें रोक लिया था। ठीक पुराने जमाने की तरह, जब काउंट और नवाबों का सख्त शासन हुआ करता था।

और तब क्रोधोन्मत्त जार्ज क्लिंकों ने कहा था, 'नहीं, मेरे साथियो, अगर हमें निदेशक से नहीं मिलने दिया जा रहा तो हम और ऊपर जाएंगे। राजा से मिलेंगे। महाराजा से मिलेंगे। महाराजा अपनी जनता को दुखी नहीं करेंगे।'

इस तरह उनका कार्यक्रम बन गया। पहाड़ों और जंगलों के बीच से होती हुई छोटी रेल आगे निकल गई, लेकिन लोग रेलवे लाइन के किनारे खड़े पश्चिम की ओर देखते रहे। उस ओर, जिस ओर सात खदान मजदूरों को लिए हुए रेल बढ़ी जा रही थी। याचिका वाली जेब को थपथपाते हुए क्लिंकों ने डिब्बे की खिड़की से झांककर कहा था, 'हम लोग सब ठीक कर लेंगे, डरो मत, चिंता मत करो!'

फिर सातों खदान मजदूर लकड़ी की सीट पर एक-दूसरे से सटकर बैठ गए थे और एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कराए थे। सब-कुछ बहुत सुंदर था। बहुत ही सुंदर सुबह थी और पीतल के बैंड की उत्तेजक ध्वनि अब भी उनके कानों में गूंज रही थी। और जब छोटी रेल खानकूपों के पास से गुजरी तब खिड़की से झांककर उन्होंने अपने भाई-बंधुओं को पुकार-पुकार कर कहा, 'हम लोग राजा के पास जा रहे हैं, राजा के पास।'

'ईश्वर तुम्हारी मदद करे!' उन्होंने चिल्ला-चिल्लाकर जवाब दिया।

जहां उन्हें गाड़ी बदलनी थी, वह जंक्शन मैदानी इलाके में था। पहाड़ वहीं तक थे। उतरते हुए उन्होंने एक-दूसरे को देखा। कितना विचित्र है मैदानी प्रदेश! यही महान हंगारी मैदान होगा। यहीं से इसकी शुरुआत होगी! और आगे यह समुद्र जितना विशाल है। घास का एक तिनका तक नहीं, केवल रेत। रेत-मैदान ऐसे ही होते हैं, उन्हें जानना तो चाहिए।

आपस में उनकी कुछ ज्यादा बात नहीं हुई। वे प्लेटफार्म पर बैठे रहे। दाएं-बाएं देखते रहे। सब लोग उनकी ओर ही तो देख रहे होंगे। वे बड़ा काम करने जा रहे हैं। बड़ा काम! इसकी खबर सबको हो गई होगी। और इसमें आश्चर्य की बात भी क्या है, आखिरकार वे राजा से मिलने जा रहे हैं। राजा को अपनी याचिका देने जा रहे हैं। कितनी बढ़िया याचिका है उनकी। एकदम राजा के पढ़ने लायक!

जब भारी-भरकम काला इंजन स्टेशन पर आया, तब इन सात खदान मजदूरों की तंद्रा टूटी। उनके झुके हुए माथों पर आश्चर्य से बल पड़ गए। क्या यही रेल का इंजन है? सेलमेक के इंजनों से तीन गुना बड़ा!

डिब्बे में चढ़ने के लिए वे जब इधर-उधर भाग रहे थे, जब कंडक्टर ने जल्दी मचाई, 'जल्दी चढ़ो।' पहले तो वे सब बिखर गए थे, फिर एकदम से धक्का-मुक्की करते हुए एक ही दरवाजे से चढ़ गए।

'तुम लोग कहां जा रहे हो?' कंडक्टर ने उनका टिकट पंच करते हुए पूछा।

'राजा से मिलने', खदान मजदूरों ने गर्व से कहा।

'मेरा यह मतलब नहीं। तुम किस स्टेशन तक जा रहे हो? सीमांत तक?'

'हां, सीमांत तक। और उससे भी आगे।'

कंडक्टर मुस्कराया और वे भी मुस्कराए।

महल और पहाड़, छोटे-छोटे गांव और अजीबो-गरीब शहरों के बीच से होती हुई ट्रेन चली जा रही थी। दुनिया कितनी अच्छी जगह है!

वियना पहुंचने में पूरा एक दिन लग गया। वे पूरा एक दिन ट्रेन में बैठे रहे।

'राजा कैसा होगा', वे सोचते रहे और ध्यान आते ही उनकी सांस रुक जाती कि कल उन्हें राजा के सामने जाना है। उनमें से एक ने कह ही डाला।

'वह कैसा होगा?' दूसरे ने जवाब दिया, 'वह संत स्टीफन का पवित्र मुकुट पहनता है। वह अपने कंधों पर लबादा डाले रहता है। पर, जब लोगों से मिलता है, तभी यह सब पहनता है। वैसे तो वह किसी गरीब आदमी की तरह रहता है।'

पर, वे यह मानने को तैयार नहीं थे। राजा गरीब आदमियों की तरह नहीं हो सकता। महल की सभी वस्तुएं सोने की बनी हुई होनी चाहिए। और शायद ऐसा था भी! मसलन उसकी गद्दी किस चीज की बनी हुई होगी? कुछ भी हो, वह राजा है। सेलमेक के किसी भी व्यक्ति ने उसे देखा तक नहीं था। केवल खदान-निदेशक उससे एक बार मिला था। वे राजा को सब बता देंगे। जिस तरह लोग पवित्र वेदी के सामने घुटने टेकते हैं, उसी तरह वे राजगद्दी के सामने घुटने टेककर राजा को सब बता देंगे और फिर खदान-प्रबंधकों की छुट्टी हो जाएगी।

'अच्छा दोस्तो', जार्ज क्लिंकों ने कहा, 'एक बात निश्चित है। इसका मतलब है, हम सबकी नई जिंदगी शुरू होगी। तुम सोच भी नहीं सकते, राजा किन परिवर्तनों का आदेश देगा। वह हमें फोरमैन तो बना ही देगा।'

एक के बाद एक चमत्कार देखकर उनके दिल-दिमाग चकाचौंध हो रहे थे। रेल शीशों की बड़ी सुरंग के भीतर घुसी! कैसी विचित्र जगह है। लोगों की कैसी भीड़ है! धुआं उड़ाते बड़े-बड़े रेल इंजन और बाहर सड़कों पर इतनी रोशनी कि तारे तक नजर नहीं आते। मकानों की कतारें और कतारें, बड़े-बड़े घर, सेलमेक की पहाड़ी चोटियों की तरह आकाश को चुनौती देतीं बड़ी-बड़ी मीनारें।

पूरी रात वे एक पल भी नहीं सोए। सुबह तड़के ही उठ गए। उठकर वे टहले नहीं....रिंग के किनारे-किनारे लड़खड़ाते, हिचकिचाते वे चलते गए। किसी तरह वे महल के सामने आ खड़े हुए। डरावने धूसर प्रवेशद्वार से वे भीतर घुसे। एक विचित्र आदमी उन्हें लिए जा रहा था। सारे संतरी उस विचित्र आदमी को सलाम कर रहे थे और ऐसा करने में उनके कंधों पर लटके राइफलों के पट्टे खड़खड़ा उठते थे। जार्ज क्लिंकों ने फुर्ती से अपना हाथ अपनी टोपी पर रखा।

'सलाम करो', उसने आदेश दिया।

उन सबने सोचा गार्ड उन्हें सलामी दे रहे हैं और सातों ने उसे सलाम किया।

'वाह', उन्होंने सोचा, 'ये सब हमारा स्वागत यहीं से कर रहे हैं।'

फिर संगमरमर की सीढ़ियों से वे ऊपर गए। लाल गलीचों पर चलते हुए उनके पैर धंसे जा रहे थे। हरेक कोने पर मूर्ति की तरह एक-एक लंबा-तगड़ा सिपाही खड़ा था। फिंसटेरोर्ट खदान के मजदूर छोटे मासेक ने एक सिपाही को यह सोचकर छुआ कि वर्दी पहने कोई मूर्ति खड़ी है। फिर भयभीत होकर उसने अपनी उंगली हटा ली।

वे चलते गए। एक साथ गद्‌गद होकर फुसफुसाने तक की हिम्मत किसी में नहीं थी। रह-रहकर एक-दूसरे से वे नजरों ही नजरों में बातें कर लेते, पर भीतर-भीतर भयभीत थे।

फिर उन्हें एक कमरे में ले जाया गया। शानदार पोशाक में एक अफसर फुर्ती से उस कमरे से निकला। उसके पीछे एक नौकर आया। उसने एक बड़े भारी दरवाजे के दोनों पल्ले खोल दिए और राजा घुसा!

हां, राजा ही था। उन सबने इसी तरह के राजा की तो कल्पना की थी। उसने मुकुट और लाल लबादा नहीं पहना था, लेकिन वह सब गरमी में बहुत भारी भी तो होगा। लेकिन, उसकी आंखें और उसकी मुस्कान! उन्हें लगा, मानो वे उसे बरसों से जानते हों। जार्ज क्लिंकों ने घुटने टेके और अपने पीछे खड़े साथियों को इशारा किया। उन्होंने भी घुटने टेके।

राजा मुस्कराया।

'खड़े हो जाओ', उसने नरमी से कहा।

उन्होंने विनम्रतापूर्वक उसकी आज्ञा का पालन किया और खड़े होकर अपने घुटने उसी तरह झाड़ने लगे जिस तरह वे चर्च में झाड़ा करते थे। राजा ने कुछ देर उनकी ओर देखा; फूहड़ और घबराए हुए, अपनी झुकी पीठ को सीधा करते हुए। सेलमेक जिले के सात खदान मजदूर फिंसटेरोर्ट, आचसिन कोपफ, जियरगार्टन, जान जेपोमक, कोलोरेडो, श्रीकिंग और हाफेरटारो खदानों का प्रतिनिधित्व करते हुए।

वहां वे आंखें झपकाते खड़े रहे। उन्हें सांस लेने तक का साहस नहीं हो रहा था और जार्ज क्लिंकों को अपने सुंदर भाषण का एक भी शब्द याद नहीं आ रहा था—उस भाषण का, जिसे हफ्तों कठिन परिश्रम कर उसने तैयार किया था। डर, भय, संकोच और लज्जावश खड़े-खड़े वे मुस्कराते रहे और सामने देखते रहे निःशब्द!

'तो आप सेलमेक से आए हैं', राजा ने नीरसता तोड़ी।

'हां महाराज, हम लोग सेलमेक से आए खदान मजदूर हैं। आपके सेवक।' फिर वे आंखें झपकाते रहे, मुस्कराते रहे और सिर हिलाते रहे!

राजा थोड़ी देर इंतजार करता रहा। शायद वे तब बात करें जब थोड़ा संभलें! लेकिन, खदान मजदूर चुप रहे। सातों खड़े रहे, स्वामीभक्त कुत्तों की तरह। उनकी आंखों में चमक थी, वे राजा के पैरों पर गिरना चाह रहे थे, प्यार से उसके हाथ चूमना चाहते थे।

शेष पृष्ठ 52 पर

प्रमोद वर्मा की कविताएं

•

गर्दन झुकाएगा सूरज तो

कीचड़ से
कहां तक भागोगे

सब-कहीं है कीचड़
बाहर ही नहीं

बहुत भीतर तक अपने भी

भागने के वेग से तो
और भी गहरे धंसते जाओगे

नहीं
नहीं है कीचड़ से मुक्ति मित्र
सच पूछो तो मुक्ति
अपने कीचड़ में धंसकर ही मिलती है

सूरज उगता है तो ताल में
सैकड़ों कमल खिल जाते हैं

नव कंज लोचन
कंज मुख
कर कंज
पद कंजारुणम

पद-कंज तो क्या
मुक्ति-पुरुष की पनही का
तल्ला बनना भी सौभाग्य की बात होगी

जिससे पैदा हुए हैं
उससे नहीं भागेंगे हम कभी मित्र
तुम
मेरे कीचड़ में धंसकर कमल तोड़ो
मैं तुम्हारे

ढेर-सारे कमल तोड़कर हम
एक माला बनाएंगे
और
गर्दन झुकाएगा सूरज तो

उसके गले में डाल देंगे

खिलना
हमारा धर्म
और अर्पित होना
मोक्ष है मित्र

•

भजन कौन रचेगा

जिस मिट्टी से चूल्हा बनता है
उसी से दीया भी
और आग का वरण भी
दोनों ही करते हैं
एक आग रोटी पकाती है
दूसरी आरती सजाती है

रोटी तोड़ता हाथ
आरती गाते मन का होता है

विह्वल मन की फसल काटकर आदमी
अपनी हांडी में रांधता है
इस भात में
पूरे परिवार का साझा है

सांई
निश्चय ही कुटुंब की समाई भर देता है
लेकिन हम अपने साधु को
हमेशा भूखा लौटा देते हैं

साधु लौट जाएगा
तो भजन कौन रचेगा
फिर मैं
आरती की लौ बनने की अपनी
चरम सिद्धि को प्राप्त
कैसे कर सकूंगा
देवघर पिता का है
रसोईघर मां का
मैं दोनों का बेटा हूं
मेरी आग
दोनों जगह जलेगी

❖❖

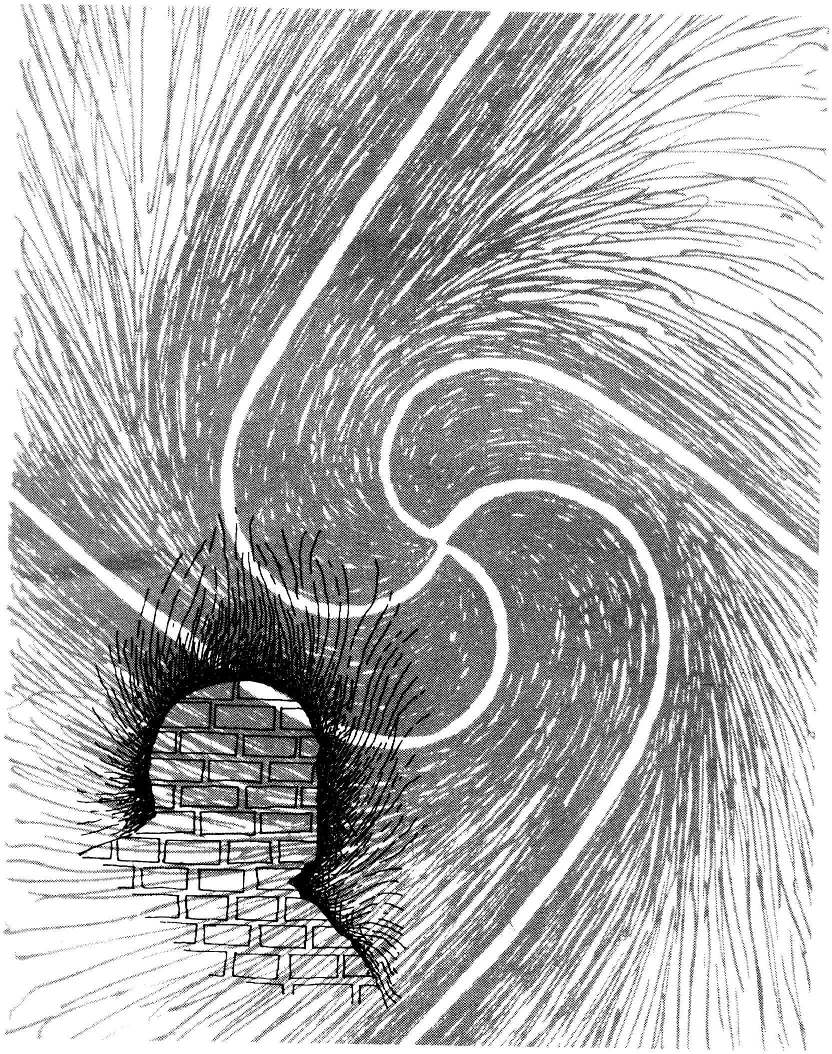

शीलन

भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी भावनाएं अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत-कुछ त्रिशंकु जैसी हो जाएगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।

—श्यामाचरण दुबे

धर्म एवं दर्शन के गूढ़ रहस्यों को जनसामान्य में ग्राह्य बनाने के लिए कथाओं का अवलंबन प्रमुखतः लिया जाता रहा है। कुरान और बाइबिल में भी अनेक कथाएं उपलब्ध होती हैं। भारतीय प्राच्य साहित्य में वेदों एवं पालि-त्रिपिटकों की भांति जैन आगम-शास्त्रों में छोटी-बड़ी अनेक कथाएं प्राप्त होती हैं। जैन आगम साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिंतन तथा नीति एवं कर्तव्य का बोध सुगमता के साथ कथाओं के माध्यम से ही किया गया है। विविध परिणाम-भावों को उद्घाटित करने वाले जीवन-प्रसंग तथा धर्म, शील, संयम, तप आदि को उजागर करने वाली घटनाओं का अंकन भी कथाओं में हुआ। जैन श्रमण अपने भ्रमणकाल में जहां-कहीं कोई सुंदर श्रेष्ठ रचना पाते, उसे वे अपने अनुभव व ज्ञान का अंग बना लेते थे।

आगम कथा रोहिणी—एक दृष्टि

डॉ. महावीरराज गेलड़ा

कहानी सुनने व सुनाने की परंपरा बड़ी प्राचीन है। भारतीय परिवारों में दादी-नानी बच्चों को कहानी सुनाती आई हैं। शिक्षा देने का यह सरलतम उपाय रहा है। कहानी मनोरंजक होने के साथ शिक्षाप्रद एवं प्रेरणादायक भी होती है। दादी-नानी जब बच्चों को रात में कहानी सुनाती हैं तो उसका उद्देश्य यह रहता है कि बच्चों के मन में अच्छे संस्कार आएं, रात में बुरे स्वप्न नहीं आएं और बच्चों को गहरी नींद आ जाए।

लेकिन धार्मिक गुरु जब अपने शिष्यों को कथा सुनाते हैं तब उसका उद्देश्य भिन्न रहता है। शिष्य के अंतःमन के द्वार को खोलना और जीवन के सत्यों को उसके मन में कथा के माध्यम से प्रवेश कराना गुरु का लक्ष्य रहता है। इस विधि से संस्कार गहराई में उतर जाते हैं और अनुभव के क्षण भी ऐसी कथाएं उपलब्ध कराती हैं। कथा सुनते समय विभिन्न प्रकार की जिज्ञासाएं स्वतः उभरती हैं, और समझने की दृष्टि से बच्चे अथवा शिष्य प्रश्न भी करते हैं। स्वतंत्र जिज्ञासा का होना, प्रश्न का पूछना और उत्तर पाकर आनंदित होना जिन्हें नहीं आता, वे बड़े होकर भी भटकती जिज्ञासाओं के शिकार हो जाते हैं। उनकी वाणी भी सहज नहीं रहती।

भारतीय प्राच्य साहित्य की विभिन्न विधाओं में कहानी अत्यंत प्रभावशाली विधा मानी गई है। विभिन्न सामाजिक या धार्मिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति, विन्यास, सुधार एवं निराकरण के लिए कथा-साहित्य एक सशक्त माध्यम है। किसी सिद्धांत का प्रतिपादन करना हो, या क्रिया का वेग अंकित करना हो, किसी घटना का महत्त्व निरूपित करना हो, या किसी मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करना हो—साहित्य की इस विधा के द्वारा सब-कुछ संभव है।

जैन कथाओं का इस दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण

योगदान रहा है। जैन कथाओं के पात्र इतने सशक्त रहे हैं कि उनके माध्यम से संपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व का स्वरूप तथा जीवन का सार प्रकट हो जाता है। जब कथा समाप्त होती है तो शिष्य बदले हुए-से प्रतीत होते हैं, क्योंकि इस बीच जिज्ञासा और कौतूहल से भरा मन एक भाव-यात्रा पूरी कर चुका होता है। गुरु का शिष्य को संस्कारित करने का, उसके अंतर्चक्षु खोलने का यह सरलतम तरीका रहा है, जो शिष्य को अच्छी-खासी समझ दे देता है।

धर्म एवं दर्शन के गूढ़ रहस्यों को जनसामान्य में ग्राह्य बनाने के लिए कथाओं का अवलंबन प्रमुखतः लिया जाता रहा है। कुरान और बाइबिल में भी अनेक कथाएं उपलब्ध होती हैं। भारतीय प्राच्य साहित्य में वेदों एवं पालि-त्रिपिटकों की भांति जैन आगम-शास्त्रों में छोटी-बड़ी अनेक कथाएं प्राप्त होती हैं। जैन आगम साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिंतन तथा नीति एवं कर्तव्य का बोध सुगमता के साथ कथाओं के माध्यम से ही किया गया है। विविध परिणाम-भावों को उद्‌घाटित करने वाले जीवन-प्रसंग तथा धर्म, शील, संयम, तप आदि को उजागर करने वाली घटनाओं का अंकन भी कथाओं में हुआ। जैन श्रमण अपने भ्रमणकाल में जहां-कहीं कोई सुंदर श्रेष्ठ रचना पाते, उसे वे अपने अनुभव व ज्ञान का अंग बना लेते थे। महाकवि गुणाढ्य की वृहद्-कथा का संघदासगणि वाचक द्वारा वसुदेवहिंडी के रूप में आत्मसात करना इसका प्रमाण है। वैताल-पंचविंशतिका, सिंहासन-द्वात्रिंशिका, शुक-सप्तति, भरटकद्धा त्रिंशिका, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि रचनाओं का उपयोग भी इसी तरह हुआ है। दर्शन के अनेक गूढ़ रहस्य सुलझाने तथा अनेक गंभीर विषयों को उपदेशात्मक बनाने के उद्देश्य से इस साहित्य में कपटी, धूर्त, मायावी व्यक्तियों से भी सावधान किया गया है, तो व्यापारियों की शौर्य-साहस संबंधी प्रभावी कथाएं भी हैं। जैन कथा-साहित्य ने विभिन्न दिशाओं में प्रगति करते हुए ऊंची से ऊंची उड़ान ली है।

तीर्थंकरों, गणधरों तथा आचार्यों ने कथा-साहित्य की सार्वजनिक लोकप्रियता को देखते हुए अपनी गहन से गहन अनुभूतियों को सरलतम रूप देकर कथाओं के माध्यम से जन-जन तक पहुंचाने का प्रयत्न किया है। जैन कथा-साहित्य में लोकजीवन का जैसा सामष्टिक चित्रण हुआ है, इससे यह बात पुष्ट हो जाती है कि लोकधर्म के रूप में जैन धर्म संप्रतिष्ठित रहा है। जैन धर्म के अनुयाई एक ओर बड़े-बड़े राजा, सामंत तथा श्रेष्ठिगण रहे हैं, वहीं दूसरी ओर सामान्य कृषक, श्रमिक, सेवक और अंत्यज तक भी रहे हैं। इसीलिए जैन कथाओं में लोक-जीवन के साथ-साथ विभिन्न दर्शनों, समाजों, विद्याओं, कलाओं सहित शिल्प, कृषि, वाणिज्य आदि विषयों का यथा-प्रसंग विश्लेषण मिलता है, जिनका जनजीवन से प्रातिभ और व्यावहारिक—दोनों दृष्टियों से लगाव रहा है। जैन साधना-पद्धति का वर्णन भी कथाओं के विस्तार के साथ बड़े उपयोगी रूप में मिलता है। डॉ. जगदीशचंद्र जैन ने 'जैन कथा-साहित्य' नामक पुस्तक में उल्लेख किया है कि 'कथाओं का उद्देश्य मात्र मनोरंजन करना ही नहीं होता है, अपितु मनोवैज्ञानिक स्तर पर मानव की चिरंतन भावनाओं को उच्च स्तर पर उत्कृष्ट शैली में उपस्थित करना इन कथाओं का लक्षण रहा है।' ऐसे कथा-लेखक लोक-जीवन के कुशल चितेरे रहे हैं।

अंग-साहित्य (11 आगम) में धर्म कथानुयोग के अंतर्गत निम्न आगम माने गए हैं—(1) ज्ञाताधर्मकथा। (2) उपासकदशांग। (3) विपाकदशा। (4) अंतकृद्दशा। (5) अनुत्तरोपपातिकदशा। इन आगमों के अतिरिक्त उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा भगवती सूत्र में भी कथाओं की कमी नहीं है। अतः अंग-साहित्य का संपूर्ण अध्ययन कथा-साहित्य के बिना अधूरा है। इसी तरह दिगंबर परंपरा में धर्मकथानुयोग को प्रथमानुयोग कहा है। उद्योतन सूरि ने कथाओं के चार प्रकारों को धर्मकथा के अंतर्गत लिया है। ये हैं—1. आक्षेपणी, 2. विक्षेपणी, 3. संवेदनी, 4. निर्वेदनी। आक्षेपणी कथा के चार प्रकार माने गए हैं—(1) आचार आक्षेपणी में आचार का निरूपण होता है। (2) व्यवहार आक्षेपणी में व्यवहार-प्रायश्चित्त का निरूपण होता है। (3) प्रज्ञप्ति आक्षेपणी में संशयग्रस्त श्रोता को समझाने के लिए निरूपण होता है। (4) दृष्टिपात आक्षेपणी में श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नय-दृष्टियों से तत्त्व निरूपण होता है। इसी तरह विक्षेपणी कथा के भी चार प्रकार हैं— (1) अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर दूसरे के सिद्धांत का कथन करना। (2) दूसरों के सिद्धांत का प्रतिपादन कर अपने सिद्धांत की स्थापना करना। (3) सम्यक्‌वाद की स्थापना कर मिथ्यावाद का प्रतिपादन करना। (4) मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर सम्यक्‌वाद की स्थापना करना। संवेदनी कथा के भी चार प्रकार हैं—(1) मनुष्य-

जीवन की असारता दिखाना। (2) देव, तिर्यंच आदि के जन्मों की मोहमयता और दुखमयता बताना। (3) अपने शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करना। (4) दूसरे के शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करना। इसी तरह निर्वेदनी कथा के भी चार प्रकार बताए गए हैं— (1) वर्तमान के शुभ अथवा अशुभ कर्म का वर्तमान में फल देने का निरूपण करने वाली कथा। (2) वर्तमान के शुभ अथवा अशुभ कर्म का भविष्य में फल देने का निरूपण करने वाली कथा। (3) पूर्वजन्म के शुभ अथवा अशुभ कर्म का पूर्वजन्म में फल देने का निरूपण करने वाली कथा। (4) पूर्वजन्म के शुभ अथवा अशुभ कर्म का वर्तमान में फल देने का निरूपण करने वाली कथा।

खंडन-मंडन रूप चर्चा के लिए कथा और वाद शब्द प्रचलित रहे हैं। न्याय परंपरा में कथा के तीन भेद किए हैं—वाद, जल्प और वितंडा। जैन परंपरा भी 'वाद' के अर्थ में कथा का प्रयोग स्वीकार करती है। उस श्लोक में 'कथा' शब्द वाद के अर्थ में प्रयुक्त है। मुनि ऐसा 'वाद' न करे जिसमें हिंसा की संभावना हो।

जैन धर्मकथाओं में दृष्टांत, रूपक, उपमा, संवाद, लोककथाओं आदि के माध्यम से संयम, तप, त्याग, वैराग्य आदि का सशक्त प्रस्तुतीकरण किया गया है। आचारांग सूत्र में महावीर का जीवन कथानक शैली में ही वर्णित है। सूत्रकृतांग के द्वितीय खंड में पुंडरीक का दृष्टांत आगम कथा-साहित्य के विकास को दर्शाता है। ज्ञाताधर्मकथानक तो कथाओं का श्रेष्ठ संग्रह माना गया है।

इस दृष्टि से ज्ञाताधर्मकथा आगम की उपयोगिता को देखते हुए उसमें वर्णित रोहिणी की कथा पर दृष्टिपात करना प्रासंगिक होगा। इस कथा में समाजशास्त्र के सिद्धांतों का प्रयोगात्मक स्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। साधारण से साधारण परिवार का जीवन चरित्र हमें इस कथा में प्राप्त होता है। परिवार संचालन के लिए किस प्रकार के प्रयोग आवश्यक होते हैं, भारतीय संस्कृति में ऐसा ज्ञान चिरकाल से रहा है जो रोहिणी कथा में स्पष्ट देखने को मिलता है।

रोहिणी ज्ञात : सातवां अध्ययन : धन्य सार्थवाह

रोहिणी का दृष्टांत साधना के क्षेत्र में संवेग और चित्तवृत्ति की तरतमता को समझाने के लिए सुंदर दृष्टांत है। किसी सेठ के चार पुत्रवधुएं थीं। वह यह जानना चाहता था कि इन चारों पुत्रवधुओं में कौनसी पुत्रवधू संयुक्त पारिवारिक जीवन का सही संचालन कर सकती है। इसके लिए उसने एक प्रयोग किया। सेठ ने अपनी चारों पुत्रवधुओं को पांच-पांच चावल दिए और कहा—जब मैं मांगूं, इन्हें लौटा देना। पहली पुत्रवधू उज्झिता के संवेग संतुलित नहीं थे। उसने सोचा—पांच चावलों का क्या? उसने उन्हें फेंक दिया। दूसरी पुत्रवधू भोगवती ने उज्झिता की अपेक्षा संतुलित मनोवृत्ति का परिचय दिया। ससुर के हाथ से प्राप्त चावलों को फेंका नहीं, खा लिया। तीसरी पुत्रवधू रक्षिता ने श्वसुर की बात का आदर किया। मुझे यही दाने लौटाने हैं, अतः उनका सम्यक् संरक्षण कर अपने नाम को सार्थक कर दिया। चौथी पुत्रवधू रोहिणी ने सेठ द्वारा प्राप्त चावलों का संगोपन, संवर्द्धन किया।

उसी काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। उस राजगृह नगर में श्रेणिक राजा था। राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा—ईशान कोण में सुभूमिभाग उद्यान था। उस राजगृह नगर में धन्य नामक सार्थवाह निवास करता था, वह समृद्धिशाली था (उसके यहां बहुत शय्या, आसन, भवन, यान, वाहन थे, दास, दासियां, गाएं, भैंसे थीं, सोना-चांदी, धन था।), वह किसी से पराभूत होने वाला नहीं था। उस धन्य सार्थवाह की भद्रा नामक भार्या थी। उसकी पांचों इंद्रियों और शरीर के अवयव परिपूर्ण थे, उसकी चाल, हास्य, भाषण सुसंगत थे, मर्यादानुकूल थे। उसे देखकर प्रसन्नता होती थी, अभिरूप एवं प्रतिरूप थी। वह सुंदर रूप वाली थी। उस धन्य सार्थवाह के पुत्र और भद्रा भार्या के आत्मज (उदरजात) चार सार्थवाह-पुत्र थे। उनके नाम इस प्रकार थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप, धनरक्षित। उस धन्य सार्थवाह के चार पुत्रों की चार भार्याएं—सार्थवाह की पुत्रवधुएं थीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी।

परिवार चिंता : परीक्षा का विचार

धन्य सार्थवाह को किसी समय मध्य रात्रि में इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—'इस प्रकार निश्चय ही मैं राजगृह नगर में राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुंबिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह आदि-आदि के और अपने कुटुंब के भी अनेक कार्यों में, करणीयों में, कुटुंब संबंधी कार्यों में, मंत्रणाओं में, गुप्त बातों में, रहस्यमय बातों में, निश्चय करने में, व्यवहारों (व्यापार) में, पूछने योग्य, बारंबार पूछने

योग्य, मेढ़ी के समान, प्रमाणभूत, आधार, आलंबन, चक्षु के समान पथदर्शक, मेढ़ीभूत और सब कार्यों की प्रवृत्ति कराने वाला हूं। अर्थात् राजा आदि सभी श्रेणियों के लोग सब प्रकार के कार्यों में मुझसे सलाह लेते हैं, मैं सब का विश्वास-भाजक हूं। परंतु, मेरे कहीं दूसरी जगह चले जाने पर, किसी अनाचार के कारण अपने स्थान से च्युत हो जाने पर, मर जाने पर, भग्न हो जाने पर अर्थात् वायु आदि के कारण लूला-लंगड़ा, कुबड़ा आदि हो जाने पर, गिर जाने पर या बीमारी से खाट में पड़ जाने पर, परदेश में जाकर रहने पर अथवा घर से निकल कर विदेश जाने के लिए प्रवृत्त होने पर मेरे कुटुंब का पृथ्वी की तरह आधार, रस्सी के समान अवलंबन और बुहारू की सलाइयों के समान प्रतिबंध करने वाला, सब में एकता रखने वाला कौन होगा? अतएव मेरे लिए यह उचित होगा कि कल यावत् सूर्योदय होने पर विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम—यह चार प्रकार का आहार तैयार करवा कर मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधी, परिजनों आदि को तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह (मैके—पीहर) के समुदाय को आमंत्रित करके और उन मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन आदि तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह-वर्ग का अशन (रोटी, चावल आदि), पान (पानी आदि), खादिम (फल आदि), स्वादिम (मधु आदि) से तथा धूप, पुष्प, वस्त्र, गंध, माला, अलंकार आदि से सत्कार करके, सम्मान करके उन्हीं मित्र-ज्ञाति आदि के समक्ष तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह-वर्ग (मैके के सभी लोगों) के समक्ष, पुत्रवधुओं की परीक्षा करने के लिए पांच-पांच शालि-अक्षत (चावल के दाने) दूं। इससे जान सकूंगा कि कौन पुत्रवधू किस प्रकार उनकी रक्षा करती है, सार-संभाल रखती है या बढ़ाती है?

वधू-परीक्षा

धन्य सार्थवाह ने इस प्रकार विचार करके दूसरे दिन मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधीजनों तथा परिजनों को तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह-वर्ग को आमंत्रित किया। आमंत्रित करके विपुल, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तैयार करवाया।

उसके बाद धन्य सार्थवाह ने स्नान किया। वह भोजन-मंडप में उत्तम सुखासन पर बैठा। फिर मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन, संबंधी एवं परिजनों आदि के तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह-वर्ग के साथ उस विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम का भोजन करके, यावत् उन सबका सत्कार किया, सम्मान किया, सत्कार-सम्मान करके उन्हीं मित्रों, ज्ञातिजनों आदि के तथा चारों पुत्रवधुओं के कुलगृह-वर्ग के सामने पांच चावल के दाने लिए। लेकर जेठी पुत्रवधू उज्झिका को बुलाया। बुलाकर इस प्रकार कहा—'हे पुत्री! तुम मेरे हाथ से यह पांच चावल के दाने लो। इन्हें लेकर अनुक्रम से इनका संरक्षण और संगोपन करती रहना। हे पुत्री! जब मैं तुम से यह पांच चावल के दाने मांगूं, तब तुम यही पांच चावल के दाने मुझे वापस लौटाना। इस प्रकार कह कर पुत्रवधू उज्झिका के हाथ में वह दाने दे दिए। देकर उसे विदा किया।

तत्पश्चात् उस उज्झिका ने धन्य सार्थवाह के इस अर्थ—आदेश को—'तहत्ति—बहुत अच्छा'—कहकर धन्य सार्थवाह के हाथ से पांच शालि-अक्षत (चावल के दाने) ग्रहण किए। ग्रहण करके एकांत में गई। वहां जाकर उसे इस प्रकार का विचार, चिंतन, प्रार्थित एवं मानसिक संकल्प उत्पन्न हुआ—'निश्चय ही पिता (श्वसुर) के कोठार में शालि से भरे हुए बहुत से पल्य (पाला) विद्यमान हैं। सो, जब पिता मुझसे यह पांच शालि-अक्षत मांगेंगे, तब मैं किसी पल्य से दूसरे शालि-अक्षत लेकर दे दूंगी।'—उसने ऐसा विचार किया। विचार करके उन पांच चावल के दानों को एकांत में डाल दिया और डाल कर अपने काम में लग गई। इस प्रकार दूसरी पुत्रवधू भोगवती को भी बुलाकर पांच दाने दिये, इत्यादि। विशेष यह है कि उसने वह दाने छीले और छील कर निगल गई। निगल कर अपने काम में लग गई।

इसी प्रकार तीसरी पुत्रवधू रक्षिका के संबंध में जानना चाहिए। विशेषता यह है कि—उसने वह दाने लिए। लेने पर उसे यह विचार उत्पन्न हुआ कि—मेरे पिता (श्वसुर) ने मित्र, ज्ञाति आदि तथा चारों बहुओं के कुलगृह-वर्ग के सामने मुझे बुलाकर यह कहा है कि—'पुत्री! तुम मेरे हाथ से यह पांच दाने लो, यावत् जब मैं मांगूं तो लौटा देना। यह कह कर मेरे हाथ में पांच दाने दिए हैं, तो इसमें कोई कारण होना चाहिए।'—उसने इस प्रकार विचार किया। विचार करके वे चावल के पांच दाने शुद्ध वस्त्र में बांधे। बांध कर रत्नों की डिब्बी में रख लिए। रख कर सिरहाने के नीचे स्थापित किया। स्थापित करके प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल—इन तीनों संध्याओं के समय उनकी सार-संभाल करती हुई रहने लगी।

इसी तरह धन्य सार्थवाह ने उन्हीं मित्रों आदि के समक्ष चौथी पुत्रवधू रोहिणी को भी बुलाया। बुलाकर उसे भी वैसा ही कहकर चावल के पांच दाने दिए। यावत् उसने सोचा—'इस प्रकार पांच दाने देने का कोई कारण होना चाहिए। अतएव मेरे लिए उचित है कि चावल के इन पांच दानों का संरक्षण करूं, संगोपन करूं और इनकी वृद्धि करूं। उसने ऐसा विचार किया। विचार करके अपने कुलगृह (मैके—पीहर) के पुरुषों को बुलाया और बुलाकर इस प्रकार कहा—'देवानुप्रियो! तुम इन पांच शालि-अक्षतों को ग्रहण करो। ग्रहण करके पहली वर्षाऋतु में अर्थात् वर्षा के आरंभ में जब खूब वर्षा हो, तब एक छोटी-सी क्यारी को अच्छी तरह साफ करना। साफ करके ये पांच दाने बो देना। बो कर दो तीन बार उत्क्षेप-निक्षेप करना अर्थात् एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह रोपना। फिर क्यारी के चारों ओर बाड़ लगाना। उनकी रक्षा और संगोपना करते हुए अनुक्रम से इन्हें बढ़ाना।'

तत्पश्चात् उन कौटुंबिक पुरुषों ने रोहिणी के आदेश को स्वीकार किया। स्वीकार करके उन चावल के पांच दानों को ग्रहण किया। ग्रहण करके अनुक्रम से उनका संरक्षण, संगोपन करते हुए रहने लगे।

तत्पश्चात् उन कौटुंबिक पुरुषों ने वर्षाऋतु के प्रारंभ में महावृष्टि पड़ने पर छोटी-सी क्यारी साफ की। पांच चावल के दाने बोए। बो कर दूसरी और तीसरी बार उनका उत्क्षेप-निक्षेप किया, करके बाड़ का परिक्षेप किया—बाड़ लगाई। फिर अनुक्रम से संरक्षण, संगोपन और संवर्धन करते हुए विचरने लगे।

तत्पश्चात् संरक्षित, संगोपित और संवर्धित किए जाते हुए वे शालि-अक्षत अनुक्रम से शालि (पौधे) हो गए। वे श्याम कांति वाले यावत् निकुरंवभूत—समूह रूप होकर प्रसन्नता प्रदान करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हो गए।

कुछ वर्षों बाद सेठ ने अपनी पुत्रवधुओं को बुलाया और दिए गए पांच चावलों की स्थिति जाननी चाही। जब स्थिति स्पष्ट हुई तो सेठ ने निर्णय लिया कि घर के संवर्धन और विकास के लिए रोहिणी ने सर्वोत्तम कार्य किया है। रोहिणी की प्रशंसा करते हुए सेठ ने समस्त घरेलू कार्य का संचालन उसे सौंप दिया।

कथा सार

इस कथा का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भारतीय जीवन में हजारों वर्ष पूर्व जो विधियां कार्य में ली जाती थीं, वे अत्यंत साधारण थीं, लेकिन उनके परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण होते थे। रोहिणी की कथा में चार बिंदु उजागर होते हैं—(1) पारिवारिक वातावरण, परिवार की चिंता। (2) वधू की योग्यता की परीक्षा। (3) पांच महाव्रतों की वृद्धि के लिए दृष्टांत। (4) कथा लेखन की उस समय की वर्णनात्मक शैली।

इस कथा का आध्यात्मिक मूल्यांकन करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी लिखते हैं कि रोहिणी की कथा में चार पुत्रवधुओं की भांति ही साधना के क्षेत्र में भी चार मनोवृत्तियां देखी जा सकती हैं। कुछ साधक प्रतिकूल परिस्थिति आते ही संतुलन खो देते हैं और स्वीकृत महाव्रतों का परित्याग कर देते हैं। कुछ व्रत ग्रहण करके भी अपनी आसक्ति का परित्याग नहीं कर पाते, अतः परमार्थ पथ में अपनी वरीयता स्थापित नहीं कर पाते। कुछ साधक रोहिणी के समान नया विकास करते हैं, प्रगति में पुरुषार्थ का नियोजन करते हैं। कथा का सार यह है कि जो पुरुषार्थ करते हैं वे ही जीवन में सफल होते हैं। ❖

भावक्रिया—सफलता-सिद्धि का सूत्र

पृष्ठ 38 का शेष

विस्मरण और योगशास्त्र के अनुसार समाधि के साधनों में भ्रांति उत्पन्न होना है। प्रमाद के अर्थों की तरह प्रमाद के भेद भी कई प्रकार से किए गए हैं। अंतिम सत्य यही है कि प्रमाद सब प्रकार से त्याज्य है। भगवान महावीर ने निष्कर्ष दिया है—

सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्रमत्तस्स नत्थि भयं।

—सर्वत्र प्रमत्त को भय है, अप्रमत्त को कहीं भय नहीं। कहीं कोई खतरा नहीं। किसी भी स्थिति में अप्रमत्त उद्विग्न नहीं होता। वह राग-द्वेष से मुक्त होकर समत्व-सेवी बन जाता है।

सतत अप्रमत्तता का बिंदु बहुत उत्कर्षजनक है। यह बहुत जागरूकता से जीने का सूत्र है। सतत अप्रमत्त रहने वाला सब दुर्भावों और दुर्व्यवहारों से बच सकता है। यह भावक्रिया का अत्यंत पुष्ट बिंदु है।

इन तीनों बिंदुओं के समीचीन आकलन से भावक्रिया पूर्ण बनती है। ❖

मैं घर आकर बाएं हाथ से लिखने का अभ्यास करने लगा। चार-पांच साल तक मैं अभ्यास में ही लगा रहा। मैंने बहुत-सी कविताएं लिखीं, कहानियां लिखीं और लेख लिखे। वे सभी चीजें मेरे पास मौजूद हैं। मेरी लिखावट उसी अभ्यास का परिणाम है। जब लिखने में दक्ष हो गया तो अखबार निकालने लगा और अब आप देख ही रहे हैं कि पूरे बत्तीस पेज का अखबार हर सप्ताह निकालता हूं।

•

बालकथा

चिट्ठी के अक्षर

व्यथित हृदय

सवेरे के दस बज रहे थे। मुझे डाक से एक चिट्ठी मिली। मैं लिफाफा खोलकर चिट्ठी पढ़ने लगा—कृपा करके मेरे अखबार के लिए एक कविता भेज दीजिए।

चिट्ठी के नीचे संपादक का हस्ताक्षर था। संपादक का नाम महिपालसिंह था।

चिट्ठियां तो बराबर आती ही रहती हैं, पर इस चिट्ठी ने मेरे मन को अपनी ओर खींच लिया। इसका कारण यह था कि चिट्ठी की लिखावट बड़ी ही सुंदर थी। हर एक अक्षर जैसे सांचे में ढला हुआ-सा मालूम पड़ता था।

महिपालसिंह से मेरी कोई जान-पहचान नहीं थी। यह उनकी पहली ही चिट्ठी थी। लिखावट को देखकर मेरे मुंह से अपने ही आप निकल पड़ा—वाह-वाह, बड़ी सुंदर लिखावट है।

मैंने दूसरे ही दिन अपनी कविताएं भेज दीं।

कविताएं अखबार में छपीं और जिस अंक में छपीं, वह अंक भी मेरे पास आया।

पूरे बत्तीस पेज का सुसंपादित साप्ताहिक अखबार था वह। शुरू से लेकर अंत तक गांव की ही बातें छपी थीं। बड़े सुंदर ढंग से सात दिनों के समाचार छांट-छांटकर छापे गए थे। किसानों के लिए उपयोगी जानकारियों की बहुत-सी बातें भी थीं।

मैं अखबार को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और दूसरे अंक के लिए फिर कविताएं भेज दीं।

वे कविताएं भी अखबार में छपीं। अब मैं बराबर अपनी रचनाएं भेजने लगा और अखबार भी मेरे पास नियमित आने लगा।

महिपालसिंह की चिट्ठियां भी समय-समय पर आया करती थीं। वे कभी कविता मांगते थे, कभी लेख मांगते थे और कभी कहानी भी मांगते थे।

मैं बराबर उनकी अपेक्षाओं की पूर्ति भी कर दिया

करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि हम दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए सहज सौजन्यता पैदा हो गई।

लगभग साल-डेढ़ साल बीत गया। महिपालसिंह ने अपने एक पत्र में लिखा—यदि आपका कभी इधर आना हो तो मेरे ही घर ठहरने की कृपा करेंगे।

मैंने भी उत्तर में उन्हें लिख दिया—यदि उधर आना हुआ तो जरूर आपके दर्शन करूंगा।

संयोग की बात, दो-ढाई साल बाद मुझे उधर एक शादी में जाना पड़ा। मैं यह सोचकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि चलो, बड़ा अच्छा हुआ। बरात भी कर लूंगा और महिपालसिंह से मिल भी लूंगा। मैंने अपने आने की सूचना महिपालसिंह को दे भी दी।

नियत तिथि पर मैं उस ओर बरात में सम्मिलित होने के लिए गया। जब बरात से छुट्टी पा गया तो महिपालसिंह के घर गया।

महिपालसिंह अपने घर के बाहरी कमरे में कुर्सी पर बैठकर मेज के सहारे कुछ लिख रहे थे।

मैंने दरवाजे पर खड़े होकर प्रश्न किया—क्या महिपालसिंहजी हैं?

महिपालसिंह ने कुर्सी पर बैठे ही बैठे मेरी ओर देखते हुए पूछा—आप कौन हैं?

मैंने उत्तर दिया—मेरा नाम अखिलेश है। महिपालसिंह जैसे उछल ही पड़े। तेजी के साथ आगे बढ़कर उन्होंने मुझे पकड़कर अपने हृदय से लगा लिया और कहा—अरे अखिलेशजी, आप! क्षमा कीजिएगा।

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि मेरी दृष्टि उनके हाथों पर पड़ी। उनके एक ही हाथ था—बायां। दाहिना हाथ कंधे तक कटा हुआ था।

मैं आश्चर्यचकित होकर उनकी ओर देखने लगा। वे बड़े खुश थे, बड़े स्वस्थ थे। मैं एक क्षण में ही सोच गया—क्या इसी आदमी की वह लिखावट थी? क्या यह बाएं हाथ से इतने सुंदर अक्षर लिखता है?

महिपालसिंह मुझे अपनी ओर देखता हुआ देख बोल उठे—क्या देख रहे हैं? क्या यह कि, आपको चिट्ठियां भेजने वाला महिपाल एक हाथ का आदमी है? अरे भाई, यह जीवन है। जीवन में क्या हो सकता है, कोई कुछ नहीं जानता।

मैंने उत्तर दिया—आप तो मेरे मन को भांप गए। मैं सचमुच यही सोच रहा था। आपकी लिखावट बड़ी ही सुंदर है। मैं सोच रहा था, क्या आदमी बाएं हाथ से भी इतने सुंदर अक्षर लिख सकता है?

महिपालसिंह ने जवाब दिया—अखिलेशजी, आप तो लेखक हैं। दाएं-बाएं में कुछ फर्क नहीं होता। जो गुण दाएं में होता है, वही बाएं में भी होता है। आदमी दाएं से काम लेता है, इसलिए उसके गुणों का विकास होता है, पर बेचारा बायां वैसे का वैसा पड़ा रहता है। चलिए-छोड़िए ये सब बातें। आइए! चाय-नाश्ता कीजिए, फिर सब बताऊंगा।

मेरे मन में महिपालसिंह के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा पैदा हो उठी। मैं उनके साथ-साथ कमरे में जाकर बैठ गया।

हाथ-मुंह धोने के बाद, जब मैं महिपालसिंह के साथ चाय पीने लगा, तो मैंने उनसे पूछा—ठाकुर साहब, आप बाएं हाथ से कब से लिख रहे हैं?

महिपालसिंह विचारों में डूब गए। कुछ देर तक सोचते रहे, फिर बोले—इस वर्ष मेरी उम्र 55 वर्ष की है। मैं चालीस वर्ष की उम्र तक फौज में था। निशाना मारने में बड़ा तेज था। बाएं और दाएं, दोनों हाथों से सटीक निशाना मारता था।

संयोग की बात, मुझे एक मोर्चे पर जाना पड़ा। एक दिन जब शत्रु को अपनी गोलियों का निशाना बना रहा था तो पास·ही एक बम फटा और मेरा दाहिना हाथ कंधे तक उड़ गया।

मैं गिर पड़ा, अस्पताल में ले जाया गया। महीनों अस्पताल में पड़ा रहा। जब अच्छा हुआ, तो सरकार ने मुझे पेंशन देकर सेवा से मुक्त कर दिया।

सरकार ने मुझसे पूछा—सेवा से मुक्त होने पर मैं कौन-सा काम करूंगा?

मैंने उत्तर दिया—मैं पहले कुछ पढ़ूंगा-लिखूंगा और उसके बाद फिर एक अखबार निकालूंगा।

सरकार ने मेरे पढ़ने-लिखने और अखबार निकालने का पूरा इंतजाम कर दिया।

मैं घर आकर बाएं हाथ से लिखने का अभ्यास करने लगा। चार-पांच साल तक मैं अभ्यास में ही लगा रहा। मैंने बहुत-सी कविताएं लिखीं, कहानियां लिखीं और लेख लिखे। वे सभी चीजें मेरे पास मौजूद हैं। मेरी लिखावट उसी अभ्यास का परिणाम है। जब लिखने में दक्ष हो गया तो अखबार निकालने लगा और अब आप देख ही रहे हैं कि पूरे बत्तीस पेज का अखबार हर सप्ताह निकालता हूं।

महिपालसिंह अपनी बात खत्म करते हुए उठ पड़े। उन्होंने चार-पांच साल तक अभ्यास के रूप में लिखी हुई अपनी रचनाएं आलमारी से निकालकर मेरे सामने रख दीं। मैं उनकी रचनाओं को देखने लगा—टेढ़े-मेढ़े अक्षर, दूर-दूर छितरे हुए अक्षर, अलग-अलग अक्षर और फिर सुधरे हुए, फिर गोल-गोल सुंदर अक्षर, ऐसे कि जैसे सांचे में ही ढले हुए अक्षर हों।

मैं मुग्ध होकर बोल उठा—ठाकुर साहब, आप धन्य हैं। मैंने बचपन में पढ़ा था—रसरी आवत जात पै, सिल पर होत निशान। आज अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देख रहा हूं, बिल्कुल प्रत्यक्ष देख रहा हूं।

❖

प्रतिनिधि मंडल

पृष्ठ 41 का शेष

राजा उनकी भावनाओं को ताड़ गया। वह मुस्कराया और बोला, 'सेलमेक में आप सबके क्या हाल हैं?'

सातों खदान मजदूर राजा की ओर देखकर आंखें चमकाते रहे और हल्के-से हिले।

'महाराज, आपको यह जानकर खुशी होगी कि हम लोग बिल्कुल ठीक हैं। धन्यवाद!' वे राजा से और क्या कहते! प्रजापालक इतनी सहृदयता और प्यार से उन्हें संबोधित कर रहा था।

'आपको कुछ कहना तो नहीं?' राजा ने उत्साहित किया।

'नहीं महाराज, कुछ नहीं', वे एक स्वर में बोले।

राजा फिर से उनकी ओर देखकर मुस्कराया और वे राजा की ओर देखकर मुस्कराए, खुशी से, प्यार से, गर्व से। सेलमेक से आए भोले-भाले खदान मजदूर राजा की ओर देखकर मुस्कराए। राजा की ओर!

'फिर ठीक है', राजा ने उठने की मुद्रा में कहा, 'भगवान तुम्हारी मदद करे।'

उन्हें स्वयं नहीं मालूम, वे महल से कैसे बाहर निकले! परंतु उन्हें अच्छा लग रहा था, वे आनंदित थे और घर पहुंचने के लिए बेताब।

सेलमेक पहुंचते ही लोगों ने उन्हें घेर लिया। लोगों ने आवेश और क्षोभ में प्रश्न किए। सबके सब एक साथ प्रश्न करते जा रहे थे।

'क्या हुआ? हमें बताओ....उसने क्या कहा?'

जार्ज क्लिंकों चुप रहा। जब वे शांत हो गए तब उसने कहा, 'अरे, राजा! वह बहुत अच्छा आदमी है। उसके लिए दुआ करो। वह हमारा पालक है, सच्चा पिता है।'

'परंतु उसने याचिका के बारे में क्या कहा?' किसी ने पूछा। जार्ज क्लिंकों की भौंहें सिकुड़ गईं।

'तुम्हारा मतलब क्या है?' उसने फटकारा, 'हम उसे इस तरह की बातों से कैसे परेशान करते! वह दयालु आदमी है। लोगों को प्यार करता है और हमें उसे चिंतित नहीं करना चाहिए। हम किसी तरह अपना काम चलाते रहेंगे! हम सब खदान मजदूर!'

और दूसरे सभी प्रतिनिधियों ने स्वीकृति में सिर हिला दिया, 'बेशक हमने ठीक किया। हम अपनी परेशानियों से राजा को कैसे परेशान करते। यह ठीक नहीं होता।'

❖

अनुवाद : चंद्रकिरण राठी

महासभा का तीन-दिवसीय सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन

अहिंसा और अनेकांत हर समस्या के समाधान में सहायक

❑

प्रेक्षाप्रणेता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एवं युवामनीषी युवाचार्यश्री महाश्रमणजी की पावन सन्निधि में जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा आयोजित त्रि-दिवसीय तेरापंथी सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन दिनांक 13 से 15 अगस्त, 2007 को उत्साहवर्धक वातावरण में संपन्न हुआ। देश-विदेश की लगभग 250 तेरापंथी सभाओं और लगभग 800 प्रतिनिधियों की इसमें सहभागिता रही।

उद्घाटन सत्र : 13 अगस्त को प्रातः उद्घाटन सत्र को संबोधित करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—महासभा धर्मसंघ की सबसे पुरानी संस्था है जो अपने दसवें दशक में शताब्दी की ओर उन्मुख है। आचार्यश्री तुलसी के जन्म और महासभा की स्थापना—दोनों की शताब्दी एक ही वर्ष में होगी। महासभा ने तेरापंथ धर्मसंघ के हितों की रक्षा के लिए पूर्ण समर्पण के साथ कार्य किया। अब उसके साथ धार्मिक व सामाजिक क्षेत्रों में यह संस्था आगे बढ़ रही है। यह विकासोन्मुख है और महासभा के साथ धर्मसंघ की संगठनमूलक संस्थाओं, सभाओं का भी पूरा योग है। संघीय रीति-नीति का ज्ञान एवं उनका निर्वहन किस प्रकार हो, यह उपस्थित सभी प्रतिनिधि-गणों के लिए ज्ञातव्य है। उन्होंने कहा—इन तीन सूत्रों को हृदयंगम करें—मर्यादा में विश्वास, अनुशासन में विश्वास और संगठन में विश्वास।

हमारे पास सूत्र तो हैं, लेकिन उन्हें काम में नहीं लेते

धर्मसंघ के दो पक्ष हैं—साधना का और संगठन का। साधना का पक्ष मुख्यतः साधु-साध्वियों के द्वारा संचालित है। संगठन के पक्ष का दायित्व श्रावक समाज का है। उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् दर्शन के आठ आचार बताए गए हैं, वे संगठन के महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं।

हम इस बात को स्पष्टता से समझें कि धर्मगुरु और रक्षक गुरु अलग-अलग नहीं हैं। हमारे धर्मसंघ को आचार्य भिक्षु, जयाचार्य आदि शक्ति-संपन्न गुरु प्राप्त हुए हैं। रक्षक गुरु की तलाश में हमें इधर-उधर जाने की अपेक्षा नहीं है। विज्ञापन के युग में भुलावे में नहीं आना चाहिए। हमें किसी का खंडन, तिरस्कार या अपमान नहीं करना है। सबके साथ हमारे मैत्रीपूर्ण संबंध हैं, और सद्भावना है। धर्मसंघ के आधार को सशक्त रखना हमारा कर्तव्य है। इसके लिए तेरापंथ में यह क्रम चले कि तीनों समय—सुबह, दोपहर और शाम लोगस्स पाठ की अंतिम तीन गाथाओं का स्वाध्याय किया जाए—

एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा
चउव्वीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।
कित्तिय वंदिय मए, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।।
आरोग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागर-वर गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।

यह एक शक्तिशाली मंत्र है। हमारे पास जो है, वह किसी से कम नहीं है। अपेक्षा है कि हमारी श्रद्धा और आस्था मजबूत हो और हम अपने गौरव का एहसास करें।

संगठन के क्षेत्र में महासभा का प्रथम स्थान है और विकास के क्षेत्र में जैन विश्व भारती का पहला स्थान है। शिक्षा, चिकित्सा, संपोषण के क्षेत्र में जय तुलसी फाउंडेशन कार्यरत है। ये तीनों एक हैं, अलग-अलग नहीं हैं और सब तेरापंथ धर्मसंघ की परिक्रमा कर रहे हैं।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने उद्बोधन में कहा कि—अनुशासन ही इस धर्मसंघ का आधार है। किसी भी संगठन को स्वस्थ बनाना उसके पदाधिकारियों का कर्तव्य होता है। जिनके पास जिम्मेदारी होती है, उन्हें उस जिम्मेदारी के साथ न्याय करना चाहिए।

उद्घाटन सत्र का शुभारंभ समणीवृंद के मंगलाचरण से हुआ। महासभा अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया ने आगंतुक प्रतिनिधि-गणों का स्वागत करते हुए सभा प्रतिनिधि-गणों से संपूर्ण श्रावक समाज की सार-संभाल हेतु आह्वान करते हुए कहा कि विभिन्न कारणों से अनेक परिवार, जिनका संघीय संपर्क सूत्र कमजोर हुआ है, उनकी सार-संभाल कर हमें इस सूत्र को सशक्त बनाना है। श्री सिरोहिया ने 'एफिलियेटेड सभाएं : प्रगति विवरण-2007'—पुस्तक लोकार्पण हेतु पूज्यप्रवर को समर्पित की।

श्री भीखमचंद पुगलिया एवं श्री बहादुर सेठिया ने गीत का संगान किया।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ चातुर्मास व्यवस्था समिति के स्वागताध्यक्ष श्री शांतिलाल मारू ने उदयपुर श्रावक समाज की ओर से महासभा की टीम एवं सभी प्रतिनिधि-गणों का स्वागत किया।

तेरापंथ विकास परिषद् के अध्यक्ष श्री लालचंद सिंघी ने कहा—जो समाज के बड़े पदों पर रहते हुए समाज का नेतृत्व करते हैं, उन्हें भी सभी को साथ लेकर चलना और हर समस्या का समाधान सौहार्दपूर्ण तरीके से करना चाहिए। अगर ऐसा नहीं होगा तो धर्मसंघ पिछड़ जाएगा। युवकों और महिलाओं को समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंपना चाहिए।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के निवर्तमान अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चोरड़िया ने अधिवेशन के बारे में विस्तार से जानकारी देते हुए कहा कि 17 वर्ष पूर्व 1990 में छापर में प्रतिनिधि-सम्मेलन हुआ था, जिसमें 135 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। उसके बाद 9 सम्मेलन और हुए। आज उदयपुर में यह 10वां सम्मेलन आचार्यश्री के सान्निध्य में हो रहा है।

द्वितीय सत्र : द्वितीय सत्र के प्रारंभ में महासभा के उपाध्यक्ष श्री चैनरूप चिंडालिया ने इस सम्मेलन के उद्घोष **चरैवेति-चरैवेति** की प्रस्तुति करते हुए कहा कि हम जाग्रत हैं, अप्रमत्त हैं, अब गतिमान हों। हम चलते रहें निर्धारित दिशा में लक्ष्य की ओर एवं अकेले नहीं, सबको अपने साथ लेकर। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस सुदीर्घ वय में भी सक्रियता के जीवंत उदाहरण के रूप में हमारे लिए सशक्त प्रेरणा-स्रोत हैं।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने पाथेय प्रदान करते हुए कहा—आदमी चलता है तो कोई लक्ष्य होना चाहिए। लक्ष्य निर्धारित है—**चरैवेति-चरैवेति**—चलते रहो, चलते रहो। व्यक्ति को सोच-समझकर चलना चाहिए। यदि व्यक्ति कीचड़ में चलें तो गिर भी सकता है। चलना अच्छा है, पर कैसे चलें—उस पर हमारा विचार होना चाहिए। सावधानी है, गतिमत्ता है तो सही दिशा मिल सकती है। अनेक क्षेत्रों में जैन विद्या की परीक्षाओं की समायोजना की जाती है। ज्ञानशालाओं के माध्यम से अच्छे संस्कारों का निर्माण हो सकता है। चरैवेति का सूत्र है—गति को मंद न करें, ऐसा संकल्पशील व्यक्ति कुछ कर सकता है।

जैन विश्व भारती संस्थान की कुलपति समणी डॉ. मंगलप्रज्ञाजी ने—'शिक्षा का क्षेत्र : युगीन अपेक्षाएं'—विषय पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा— शिक्षा के तीन उद्देश्य हैं—बौद्धिक विकास, चित्त की निर्मलता एवं जीवन का निर्माण। हमारा संस्थान विश्व का प्रथम जैन विश्वविद्यालय है—जिसमें जैनागम, संस्कृत, जीवन-विज्ञान, प्रेक्षाध्यान, योग, अहिंसा आदि विभागों के साथ-साथ दूरस्थ शिक्षा विभाग है, जिसके अंतर्गत पत्राचार के माध्यम से साढ़े तीन हजार शिक्षार्थी जुड़े हैं, जिनमें विभिन्न जैन समुदायों के सैकड़ों साधु-साध्वी भी हैं। हमारे संघीय सशक्त 'नेटवर्क' के माध्यम से हमें जैन दर्शन और भगवान महावीर की वाणी को देश-विदेश के प्रबुद्ध वर्ग और विद्वत् जगत में प्रतिष्ठापित करना है।

डॉ. राज सेठिया ने 'पावर पॉइंट प्रजेंटेशन' के माध्यम से अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि व्यक्ति को स्वयं अपने-आप से पूछना चाहिए कि उसे कहां जाना है। हमारा ध्येय क्या है और इसे जानने में गुरु की वाणी हमें पथ दिखाती है। गणेश की प्रतिमा हमारे लिए अनेक संदेश लिए हुए है, उनके लंबे कान हमें अधिक सुनने, उनका विशाल ललाट हमें अधिक सोचने, उनका लघु मुख हमें कम बोलने, उनका बड़ा पेट हमें कड़वा, मीठा सब-कुछ हजम करने की प्रेरणा देता है।

अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास के प्रबंध न्यासी श्री कन्हैयालाल जैन पटावरी ने इस सत्र की समीक्षा करते हुए कहा कि हम गुरु को सुनते हैं। अपेक्षा है हम गुरु की सुनें। हमारी संगठनमूलक तीनों संस्थाओं का एकीकरण किया जाए तो संस्थाएं सशक्त होगीं और कार्यकुशलता में वृद्धि होगी। हमारे संघीय गौरव की अनुभूति हम सबको होनी चाहिए।

तृतीय सत्र : विषय—सभाएं और महासभा—परस्पर संवाद—इस सत्र में सामूहिक परिचर्चा हेतु समस्त प्रतिनिधि-गण को दस अलग-अलग समूहों में एकत्रित कर निर्धारित कक्षों में नियोजित किया गया। प्रत्येक ग्रुप में दो पर्यवेक्षक थे एवं ग्रुप लीडर का चयन प्रतिनिधि-गणों के द्वारा किया गया। चर्चित विषयों से संबंधित बिंदुओं के परिपत्र सभासदों को सम्मेलन किट में उपलब्ध कराए गए थे, जिनके शीर्षक थे— 1. सभाओं का व्यवस्थित संचालन 2. सभा चुनाव नीति-प्रक्रिया 3. सभाओं से महासभा की अपेक्षाएं 4. सभाओं का सामाजिक दायित्व

14 अगस्त, 2007 : दूसरा दिन

प्रथम सत्र : विषय—महासभा की गतिविधियां : महासभा के प्रभारी मुनिश्री धनंजयकुमारजी ने कहा—ज्ञानशाला, उपासक, मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना—ये तीनों जड़ को सींचने वाले कार्य हैं। समाज के भविष्य के निर्माण हेतु मेधावी छात्रों के प्रोत्साहन हेतु शक्ति-नियोजन अपेक्षित है।

उपासक श्रेणी के संदर्भ में मुनिश्री योगेशकुमारजी ने कहा—पूज्यवरों के अवदानों को सुदूर क्षेत्रों और व्यापक स्तर पर प्रसारित करने हेतु उपासक श्रेणी कार्यरत है।

ज्ञानशाला प्रवृत्ति के राष्ट्रीय संयोजक श्री सोहनराज चोपड़ा ने इस विभाग की गति-प्रगति की जानकारी प्रस्तुत की। नियोजक श्री अशोक भाई संघवी ने ज्ञानशाला की वार्षिक रिपोर्ट भेंट की।

मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना के संदर्भ में श्री सुरेंद्र चोरड़िया ने कहा—पूज्यप्रवर के इंगित और मार्गदर्शन के अनुसार महासभा का यह प्रयास है कि संसाधनों के अभाव में समाज के विद्यार्थी उच्च शिक्षा से वंचित नहीं रहें। आपके आह्वान पर उपस्थित सभासदों ने उत्साहवर्धक रूप में इस योजना में अनुदान हेतु अपनी स्वीकृतियां प्रदान की।

मुनिश्री जयंतकुमारजी ने कहा—जैन विद्या परीक्षाओं का संचालन जैन विश्व भारती के अंतर्गत है एवं इससे संबंधित अध्ययन ज्ञानशालाओं में कराया जाता है, जो महासभा के अंतर्गत हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों को एक संस्था के द्वारा किया जाए तो ज्यादा प्रभावी हो सकता है।

प्रेरणा सत्र : समाज भूषण अलंकरण प्रदान समारोह : पूज्यप्रवर के पावन सान्निध्य में इस सत्र में महाराष्ट्र के जलगांव निवासी कुशल प्रशासक एवं जनसेवक श्री सुरेश दादा जैन को पूर्वघोषित समाज भूषण अलंकरण महासभा अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया द्वारा प्रदान किया गया। महासभा के प्रधान ट्रस्टी श्री जसकरण चोपड़ा एवं निवर्तमान अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चोरड़िया ने शॉल एवं प्रतीक-चिह्न भेंट कर सम्मान किया।

श्री सुरेश दादा का जीवन अपने अन्य दायित्वों के साथ-साथ स्वाध्याय, योग, त्याग और तपस्या के साथ साधु-संतों की सेवा से सुशोभित है। महाराष्ट्र के स्कूलों में जीवनविज्ञान के कार्यक्रमों को लागू करवाने में आपकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। महासभा अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया ने स्वकथ्य में कहा कि तेरापंथ के 95 वर्षों के गौरवशाली इतिहास में अब तक 14 जनों को यह सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया गया है। इन शिखर-पुरुषों का जीवन हमारे लिए प्रेरणास्रोत है।

इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुए श्री सुरेश दादा जैन ने श्रद्धेय आचार्यप्रवर के श्रीचरणों में श्रद्धासिक्त नमन किया और कहा—पूज्य संतों के आशीर्वाद से मैं विवादों और आरोपों के घेरे से निकलकर बेदाग सिद्ध हुआ हूं। अब मुझे जैन धर्म और समाज की सेवा में अपनी शक्ति का नियोजन करना है एवं आचार्यप्रवर के मार्गदर्शन में जैन एकता के कार्य को आगे बढ़ाना है। अहिंसा के क्षेत्र में 'अहिंसा युनिवर्सिटी' की स्थापना लाडनूं में 'जैन विश्व भारती' के सहयोग से करने में मैं तन, मन, धन से पूरा योगदान करूंगा। मुझे जो सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया गया है, मैं उसके अनुरूप बनने का संकल्प करता हूं।

युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने प्रेरक उद्बोधन में कहा कि समाज भूषण सदाचारसंपन्न होने के साथ समाज के हित के लिए कार्य करते हैं। राजनीति के क्षेत्र में भी अच्छे व्यक्तियों का होना आवश्यक है, जिससे राजनीति का भविष्य अच्छा होगा। प्रशासकीय दायित्वों के साथ सुरेश दादा की त्यागवृत्ति सुखद आश्चर्यप्रद और प्रेरक है।

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—जैन संख्या में कम हो सकते हैं, लेकिन गुणवत्ता में सबसे आगे हैं। फिर भी आज की सबसे बड़ी कमी यह है कि जैन एकसूत्र में नहीं हैं, संगठित नहीं हैं। जैन धर्म में दो तत्त्व—अनेकांत एवं अहिंसा ऐसे हैं जो हर समस्या के समाधान में सहायक हैं। हमारे पास सूत्र तो हैं, लेकिन उन्हें काम में नहीं लेते हैं। आज जरूरत ऐसे उच्चकोटि के जैन विद्वान तैयार करने की है जो पूरे विश्व में जैन-तत्त्वों को व्यापक बनाएं। दुर्भाग्य से आज सभी सिर्फ अर्थ-प्राप्ति की दिशा में चल रहे हैं। ऐसे में समाज और धर्मसंघ का क्या होगा, समग्र जैन समाज को मिलकर इस बात का चिंतन करना है।

मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी ने सुरेश दादा एवं उनके परिवारजनों का 'जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय' में महत्त्वपूर्ण योगदान रेखांकित करते हुए कहा—सुरेश दादा प्रशासन के क्षेत्र से होने के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में रुचि रखते हैं, यह उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचायक है।

श्री सुरेंद्र चोरड़िया ने श्री सुरेश दादा का स्वागत करते हुए 'जैन विश्व भारती' की ओर से 'अहिंसा

विश्वविद्यालय' की परिकल्पना को शीघ्र आगे बढ़ाने की भावना व्यक्त की।

जलगांव श्रावक-श्राविका समाज अच्छी संख्या में उपस्थित था। इस अवसर पर अपने हर्ष और उत्साह को एक गीत के माध्यम से व्यक्त करते हुए पूज्यप्रवर से जलगांव पदार्पण एवं चातुर्मास का निवेदन किया, जिसे श्री सुरेश दादा ने दोहराते हुए श्रीचरणों में विनती प्रस्तुत की।

महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने पूज्यप्रवर एवं इस आयोजन में सहयोगी सभी संस्थाओं और महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त किया।

तृतीय सत्र : महासभा की गतिविधियां : सभाओं की भूमिका : महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने विषय पर प्रस्तुति देते हुए महासभा की मुख्य गतिविधियों—ज्ञानशाला, उपासक, मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना में सभाओं की भूमिका की चर्चा की। ज्ञानशाला नियमित एवं व्यवस्थित चले, सभा इस हेतु प्रभारी नियुक्त करे एवं अपेक्षानुसार बजट निर्धारित करे। उपासक श्रेणी में सक्षम तत्त्व-ज्ञानी एवं प्रतिभावान भाई-बहिन, जो सेवा हेतु समय दे सकें, उन्हें जोड़ने का सलक्ष्य प्रयास हो। मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना से प्रतिभावान छात्रों और प्रायोजकों के नियोजन में सभाओं की सक्रिय सहभागिता अपेक्षित है। महासभा के त्रैमासिक अभ्युदय के सामूहिक वाचन, प्रदत्त निर्देशों एवं कार्यक्रमों के समयबद्ध क्रियान्वयन पर बल दिया गया। श्रेष्ठ एवं विशिष्ट सभा के चयन क्रम में अधिकाधिक सभाओं को आगे आने हेतु आह्वान किया गया।

महासभा के उपाध्यक्ष श्री भीखमचंद पुगलिया ने सभा प्रोत्साहन परियोजना की जानकारी देते हुए सभाओं को इसके माध्यम से सक्रिय और सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने की प्रेरणा दी।

श्री पदमचंदजी पटावरी, संपादक तेरापंथ टाइम्स ने सामाजिक व संघीय समस्याओं के प्रति जागरूकता विषय पर अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा—समाज का चहुंमुखी विकास हुआ है, किंतु संगठन पक्ष अपेक्षाकृत कमजोर है। समाज में सर्वमान्य नेतृत्व का अभाव है एवं साधर्मिक वात्सल्य में कमी आ रही है। जहां सामाजिक भोज आदि आयोजन भारी-भरकम हो रहे हैं, वहीं धार्मिक आयोजन भी बोझिल बन रहे हैं। आचार संहिता की अनुपालना नहीं हो रही है। पलायन और तलाक की समस्या पर ध्यान देना आवश्यक है। परिवारों की स्थिति का आकलन कर संघीय स्तर पर समस्याओं का समाधान करने का प्रयास होना चाहिए। सामूहिक विवाह और जैन संस्कार विधि कार्यक्रम को आगे बढ़ाने हेतु सलक्ष्य प्रयास अपेक्षित है। संघ, संघपति के प्रति हमारी आस्था अखंड रहे एवं हम स्वार्थ आदि के वशीभूत होकर प्रमाद नहीं करें।

श्री हीरालाल मालू, सहमंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ने संस्था संचालन संबंधी बिंदुओं पर प्रभावी प्रस्तुति देते हुए आचार-विचार एवं व्यवस्था के आधार पर कार्यकारिणी का गठन एवं उसके व्यवस्थित संचालन की रूपरेखा के बारे में प्रकाश डाला।

मुनिश्री कुमारश्रमणजी ने कार्यकर्ताओं का निर्माण विषय पर अपना सारगर्भित वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज पदाधिकारी अधिक हैं और कार्यकर्ता कम हैं। श्रावक कार्यकर्ता के निर्माण पर बल देते हुए आपने पंचशील के सूत्र प्रस्तुत किए—निष्ठाशील, आचारशील, चिंतनशील, मिलनशील और श्रमशील। वह देव, गुरु, धर्म के प्रति निष्ठावान हो। साधना, संतदर्शन, सामायिक, व्रतचेतना आदि के प्रति जागरूक हो। संघ विकास हेतु दूरदृष्टि के साथ चिंतन का नियोजन करे। मिलनसारिता के साथ संपर्कों को व्यापक और मधुर बनाए। विवेकपूर्वक समय और श्रम का नियोजन करे।

श्रद्धेय युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने प्रेरक उद्‌बोधन में कहा—सम्मेलनों में प्राप्त प्रेरणा के माध्यम से कार्यकर्ताओं को झकझोरा जा सकता है एवं दुर्बल पक्ष को ठीक करने का प्रयास किया जा सकता है। अपेक्षा है कि सामाजिक विकृतियों पर ध्यान दिया जाए एवं हम परिष्कार का प्रयास करें। जहां गलत देखें, वहां मौन नहीं रहकर मिठास के साथ अपनी बात रखें और जहां जरूरी हो वहां कड़ाई भी की जा सकती है। कार्यकर्ता सुविधावादी नहीं हों एवं सेवा के प्रति निष्ठावान हों। सामायिक का अभ्यास एवं तनावमुक्ति के प्रयोगों को नियमित रूप से किया जाए। व्रतचेतना के विकास हेतु क्षेत्रों में प्रवासित चारित्रात्माएं सलक्ष्य प्रयास करें। सामाजिक और धार्मिक आयोजनों में अपव्यय नहीं हो, ऐसा ध्यान देना अपेक्षित है।

चतुर्थ सत्र : चर्चा-परिचर्चा : पिछले दिन की सामूहिक चर्चा-परिचर्चा के आधार पर संकलित जिज्ञासाओं और सुझावों का प्रस्तुतिकरण 'ग्रुप-लीडरों' के

द्वारा किया गया। संघीय स्तर की जिज्ञासाओं का समाधान श्रद्धेय युवाचार्यप्रवर के द्वारा किया गया। संगठन एवं संस्था संबंधी प्रश्नों का उत्तर महासभा अध्यक्ष, निवर्तमान अध्यक्ष एवं महामंत्री द्वारा दिया गया। इस सत्र की उपलब्धियों की प्रस्तुति श्री चैनरूप चिंडालिया द्वारा की गई। श्री विनोद बैद ने प्रश्नोत्तर क्रम का व्यवस्थित नियोजन करते हुए उपसंहार की प्रस्तुति दी।

सामूहिक परिचर्चा में हुए चिंतन-मंथन एवं प्रतिनिधि की सहभागिता आदि के आधार पर सभी दस समूहों का मूल्यांकन किया गया, जिसमें 'ग्रीन ग्रुप' को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया। इसके पर्यवेक्षक श्री हीरालाल मालू एवं श्रीमती कल्पना बैद तथा ग्रुप लीडर श्री डूंगरचंद चोपड़ा थे।

15 अगस्त, 2007 : आखिरी दिन

प्रथम सत्र : विसर्जन की चेतना का जागरण : महासभा के निवर्तमान अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चोरड़िया ने नए प्रारूप के अंतर्गत विसर्जन अभियान की रूपरेखा प्रस्तुत की।

ट्रस्टी श्री विनोद बैद ने इस अभियान के उद्देश्यों की जानकारी कराते हुए सभी सभाओं को इस अभियान से समाज के अधिकतम परिवारों को जोड़ने हेतु सलक्ष्य प्रयास करने का आह्वान किया।

प्रोफेसर मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी ने विसर्जन तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा कि विसर्जन का आत्मा के परिणामों से संबंध है, यह त्याग है, इसे चंदा नहीं समझें। विसर्जन के द्वारा जीवन में हल्कापन आता है। इस अभियान को व्यवस्थित रूप से संचालित किया जाए और हम इसके लक्ष्यों को सदैव ध्यान में रखकर कार्य करें।

प्रेरणा सत्र : स्वतंत्रता दिवस के छः दशकों की संपूर्ति और तेरापंथी सभा-प्रतिनिधि सम्मेलन-2007 के समापन के अवसर पर श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने पावन उद्‌बोधन में कहा—हमने स्वतंत्रता के साथ ही संग्रह की वृत्ति को अपना लिया और विसर्जन का सूत्र भूल गए। यदि इसे अपनाया जाता तो आज समस्याएं इतनी विकराल नहीं होतीं। संग्रह की भावना से मानसिक और सामाजिक—दोनों बीमारियां पैदा होती हैं। संग्रह के साथ विसर्जन भी जरूरी है। अर्जन के साथ विसर्जन और भोग के साथ त्याग होना चाहिए।

सभा-प्रतिनिधि-गणों को दायित्व बोध कराते हुए आचार्यप्रवर ने कहा—धार्मिक पक्ष के अंतर्गत खान-पान और आचार-व्यवहार का ध्यान रखना चाहिए और जहां गलती नजर आए उसकी सूचना महासभा एवं केंद्र को कराई जाए। सामाजिक पक्ष के अंतर्गत समर्थता-असमर्थता का आकलन, शिक्षा के स्तर का आकलन होना चाहिए। संसाधनों के अभाव के कारण शिक्षा के क्षेत्र में कोई पीछे नहीं रहे—इस पर ध्यान देना चाहिए। सभाओं में योग्य व्यक्ति का चयन हो और चुनाव प्रक्रिया सौहार्दपूर्ण हो। यथासंभव मनाव-प्रक्रिया से हो। कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का कार्य व्यवस्थित रूप से संचालित होना चाहिए। इस हेतु महासभा, जैन विश्व भारती एवं तेरापंथ विकास परिषद प्रशिक्षण प्रारूप का निर्धारण करें। संघीय गतिविधियों के प्रति सभाओं की जागरूकता अपेक्षित है। हर सभा में प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, जैन विद्या, अहिंसा प्रशिक्षण एवं 'युनिवर्सिटी' पाठ्यक्रम का केंद्र बने।

युवाचार्य प्रवर ने अपने उद्‌बोधन में आत्मसंयम के सूत्र—**पुरिसा अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ** की चर्चा करते हुए कहा—इसी सूत्र के अंतर्गत निहित प्रेरणा के अनुरूप आजादी के सैनिकों ने अपनी सुविधाओं को गौण कर संघर्ष किया और सफल हुए। युवाचार्यश्री ने तेरापंथ के साथ जुड़ी प्रवृत्तियों—ज्ञानशाला, उपासक, जैन विद्या परीक्षा, 'युनिवर्सिटी', तत्त्व-ज्ञान के विकास और कार्यकर्ता निर्माण आदि को आगे बढ़ाने हेतु प्रतिनिधि-गणों को प्रेरणा प्रदान की। साथ ही व्यापक संदर्भ में संचालित अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवनविज्ञान, अहिंसा प्रशिक्षण के विकास में भी योगदान करने हेतु बल दिया।

मुख्य नियोजिका साध्वीश्री विश्रुतविभाजी ने कहा कि आज के अर्थ-प्रधानता के युग में इस सम्मेलन में धर्म और धर्मसंघ के प्रति आकर्षण परिलक्षित है। महासभा विभिन्न प्रवृत्तियों के माध्यम से भावी पीढ़ी के निर्माण, व्यक्तित्वों के निर्माण, निर्मित व्यक्तित्वों के द्वारा देश में धर्मसंघ की प्रभावना जैसे गुरुतर कार्य कर रही है। समणी वर्ग की उच्च शिक्षा में भी योगभूत बन रही है। आज अपेक्षा है कुछ ऐसे समर्पित व्यक्तित्वों की, जो संघ-विकास हेतु संकल्पित होकर कार्य करें।

महासभा के प्रभारी मुनिश्री धनंजयकुमारजी ने कहा—महासभा मां की भूमिका का निर्वहन करे एवं दिशादर्शन एकसूत्रता के द्वारा सभाओं की समस्याओं का

समाधान करे। विशिष्ट सम्मेलनों, जैसे—तेरापंथ समाज के डॉक्टर्स, चार्टर्ड एकाउंटेंट्स, बुद्धिजीवियों आदि के सम्मेलनों के आयोजन के माध्यम से महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है।

महासभा के अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया ने सम्मेलन की सफल आयोजना हेतु सभी सहयोगी-गणों को धन्यवाद देते हुए पूज्यप्रवर एवं समस्त चारित्रात्माओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। **स्वर्गीय हुलासचंदजी गोलछा को मरणोपरांत समाज भूषण** अलंकरण प्रदान करने की घोषणा करते हुए महासभा अध्यक्ष ने उनकी जीवनगत विशेषताओं का उल्लेख किया।

महासभा के महामंत्री श्री तरुण सेठिया ने सम्मेलन में लिए गए निर्णयों की जानकारी कराते हुए बताया कि—

1. कार्यकर्ता एवं पदाधिकारी प्रशिक्षण का कार्यक्रम महासभा द्वारा शीघ्रतापूर्वक तैयार किया जाएगा।

2. कार्यकर्ता प्रशिक्षण के समयबद्ध संचालन एवं चुनाव प्रणाली में एकरूपता की दृष्टि से यह निर्धारित किया गया है कि सभाओं के द्वि-वार्षिक चुनाव प्रतिवर्ष जून-जुलाई महीने के भीतर संपन्न हों।

3. सभा के अध्यक्ष की न्यूनतम आयु सीमा 45 वर्ष निर्धारित की गई है।

4. सभा भवनों का संचालन निर्धारित आचार संहिता के अनुरूप हो।

5. विसर्जन अभियान द्वारा हर परिवार को धर्मसंघ की प्रवृत्ति में सहभागी बनाने का प्रयास करें।

6. मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना के माध्यम से प्रतिभावान जरूरतमंद विद्यार्थी लाभान्वित हों एवं अर्थाभाव के कारण कोई अध्ययन से वंचित नहीं रहे एवं इस परियोजना के अंतर्गत प्रायोजकीय दायित्व में सभाएं अपनी सक्रिय सहभागिता करें।

7. पूज्यप्रवर के व्यापक अवदानों—अणुव्रत, जीवनविज्ञान, प्रेक्षाध्यान, अहिंसा प्रशिक्षण के संपोषण एवं संचालन में सभाओं का पूर्ण सहयोग रहे। जिन क्षेत्रों में अन्य संस्थाएं इस हेतु कार्यरत हैं, उनके साथ पूर्ण सहयोग किया जाए। अन्य क्षेत्रों में सभा एवं संघीय संस्थाएं इन अवदानों को आगे बढ़ाने हेतु मिलकर कार्य करें एवं दायित्व का भी स्पष्ट निर्धारण करें।

आदर्श साहित्य संघ के अध्यक्ष श्री नोरतनमल दूगड़ ने आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के प्रवचनों पर आधारित मासिक शृंखला—**महाप्रज्ञ ने कहा**—पुस्तक के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हेतु आह्वान किया। उपस्थित सभा-अधिकारियों ने इस हेतु अच्छी संख्या में अपनी स्वीकृति प्रदान की।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ चातुर्मास व्यवस्था समिति के अध्यक्ष श्री विजयकुमार सुराणा ने महासभा एवं समस्त सभाओं के प्रतिनिधि-गणों के प्रति अपनी भावनाएं प्रकट करते हुए व्यवस्थाओं में कोई कमी रही हो तो खमत खामणा किया। प्रवास व्यवस्था समिति की ओर से महासभा अध्यक्ष श्री राजकरन सिरोहिया एवं जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चोरड़िया का मोमेंटो एवं शॉल द्वारा सम्मान किया गया।

महासभा की ओर से प्रतिनिधि सम्मेलन के प्रायोजक श्री सुमतिचंद गोठी-मुंबई, श्री कन्हैयालाल गिड़िया-बेंगलोर, श्री नरेंद्र श्यामसुखा-कोलकाता, श्री बिमलकुमार नाहटा-गुवाहाटी, श्री यू.सी. भंडारी-हैदराबाद, तेरापंथी सभा-दिल्ली एवं भोजन व्यवस्था की प्रायोजक श्रीमती पुखराजदेवी चोरड़िया (चांदीवाला), लाडनूं-कोलकाता तथा एफिलियेटेड सभाएं : प्रगति विवरण-2007 के प्रायोजक श्री शांतिकुमार बैद-कोलकाता का एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ चातुर्मास व्यवस्था समिति के अध्यक्ष, महामंत्री, मुख्य संयोजक एवं वक्तागणों को मोमेंटो प्रदान कर सम्मानित किया गया। आयोजन की संपूर्ण व्यवस्थाओं में प्रवास व्यवस्था समिति, तेरापंथी सभा, तेरापंथ युवक परिषद् आदि स्थानीय संस्थाओं एवं कार्यकर्ताओं का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। सम्मेलन की आवास, आवागमन आदि विभिन्न व्यवस्थाओं के सम्यक् नियोजन में महासभा के सहमंत्री भी विजयसिंह चोरड़िया की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। महासभा के कार्यसमिति सदस्य श्री भंवरलाल पोरवाल का प्रारंभ से ही विभिन्न व्यवस्थाओं के नियोजन में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। एतदर्थ सभी के प्रति हार्दिक आभार।

संपूर्ण त्रि-दिवसीय कार्यक्रम का संचालन महासभा के राष्ट्रीय संयोजक श्री भंवरलाल सिंघी ने अपनी चिर-परिचित शैली में कुशलतापूर्वक किया।

तरुण सेठिया
महामंत्री

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

GIRIAS

The Consumer Durable People

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

BANGALORE — 6 world class Showrooms

Gandhinagar	Brigade Road	Sadashivnagar	Jayanagar	Domlur Ring Road	Rajajinagar
Ph : 22264551 22204189 Fax : 22353708	Ph : 22228032 22270126 Fax : 22227879	Ph : 23619195 23619196 Fax : 23611448	Ph : 26566140 26566141 Fax : 26566143	Opening By March 2007	Ph : 23119236 23119237 Fax : 23119239

KARNATAKA — World Class Showrooms

Mysore	Hubli	Mangalore
Ph : 2424330 2424331 Fax : 2424332	Ph : 2358601 2358602	Ph : 2445551 2442220

TAMILNADU — World Class Showrooms

Selam	Coimbatore
Ph : 2330735 2330734 Fax : 0427-2330764	Ph : 2231675 Fax : 0422-2233059

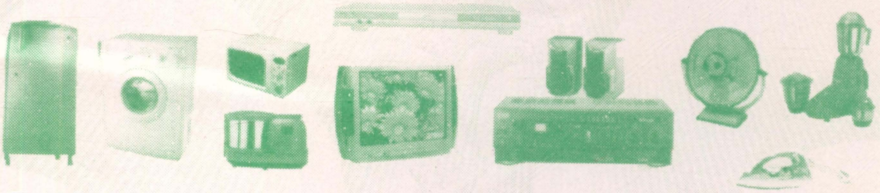

SONY BPL SAMSUNG LG IFB Haier Electrolux Kelvinator TCL Whirlpool ONIDA PHILIPS

Godrej NOKIA Connecting People Sony Ericsson USHA Lexus FORBES GLEN BRAUN MAHARAJA kailash ULTRA GRIND MOTOROLA

388292

KARNATAKA FILATEX

(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)

Magadi Chord Road, BANGALORE 560079

Ph. : 23353714, 22384416

GIRIAS UTTARANCHAL TEA

UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.

Pingalkot, Post. Kausani

Distt. Bagneshwar, Uttaranchal

Ph. : 05962-258330 Fax : 05962-258331

प्रेषण दिनांक 5 अक्टूबर, 07

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

जैन भारती, अक्टूबर, 2007

Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence
No. Tech.(WR)47-2/05-06/11 Valid till 31-12-2008

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।